Date	No.	Date	No.
20 MAR 1961	क २६ ४/४		
25 OCT 1971			
D/18/28			

॥ ओ३म् ॥

वेदार्थ करने की विधि

लेखक

चन्द्रमणि विद्यालङ्कार
वेद तथा पालि प्रोफेसर
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी

प्रति ५००　　　　　　मूल्य ॥=)

गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी में नन्दलाल के प्रबन्ध से
मुद्रित तथा प्रकाशित।

* ओ३म् *

वेदार्थ करने की विधि

यज्ञेन वाचः पदवीय मायन् ता मन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते.

पूजनीय परमात्मा से मनुष्यों ने वाणी के मार्ग, वेदवाणी को प्राप्त किया। उस वाणी को ऋषियों द्वारा उपलब्ध किया। उस वेदवाणी को धारण कर के उन ऋषियों ने उसका बहुत्र प्रचार किया। वह वेद वाणी वर्णन करने वाले सात छन्दों के संगम से बनी हुई है।

किसी उद्देश्य तक पहुंचने के लिये मनुष्यों को कुच्छ एक बातों का पहले से ही ध्यान रख लेना आवश्यक होता है। यदि हम किसी अपरिचित स्थान पर जाना चाहें और हमें इस का परिज्ञान न हो कि वहां तक पहुंचने का मार्ग कौन सा है और कैसा है तो हम निस्सन्देह किसी उलटे रास्ते पर जा पड़ेगें और अपने लक्ष्य पर कभी न पहुंच सकेगें। हमें भली-प्रकार इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि अमुक अमुक स्थान पर अन्य मार्ग निकलते हैं उन को छोड़ते हुए वास्तविक

मार्ग पर चलना है। अथवा हम किसी ऐसे पथदर्शक के पीछे २ चलें जो हमें विपरीत मार्गों से बचाता हुआ असली लक्ष्य पर पहुंचा दे। इसी प्रकार वेदार्थ करने से पूर्व मनुष्य को किन बातों पर सदा ध्यान रखना चाहिए जिस से वह उलटे रास्ते पर लेजाने वाली पगदण्डियों से बच कर अपने उद्देश्य में सफल होसके इसबात की आलोचना करनी वेदाध्ययन के लिये अत्यावश्यक जानपड़ती है।

वैदिक भाषा सृष्टि के आदिकाल में जहां मनुष्यों को पूर्णतया परिज्ञात थी वहां वेदाध्ययन भी नियम-पूर्वक गुरुपरम्परा से चला आता था। उस समय वेदार्थ समझने में वह निस्सीम बाधायें नहीं हो सकती थीं जो आज दृष्टिगोचर हो रही हैं।

गौतमबुद्ध के कथनानुसार मनुष्यों के एकमात्र कोप वेदों के विपरीत अर्थ कोई शताब्दियों से ही नहीं किये जाने लगे, परन्तु इस अनर्थ का सूत्रपात इक्ष्वाकु राजा से ही हो चुका था। बुद्ध के समय पवित्र वेदों के नाम पर जो वेचारे प्राणियों का बलिदान करके हत्याकाण्ड किया जाता था वह किसी से छिपा नही। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मिक सुत्त में आया है कि एक समय बुद्ध श्रावस्ति के जेतवन विहार में रहते थे। वहां बहुत से कोसल देशीय बृद्ध ब्राह्मण आये और पूछने लगे कि भगवन्! क्या इस समय प्राचीन ब्राह्मणों के ब्राह्मण धर्म में स्थित कोई ब्राह्मण हैं? बुद्ध ने बड़े शोक से उत्तर दिया कि इस समय वैसे कोई ब्राह्मण नहीं दिखाई पड़ते। तब उन के पूछने पर वह प्राचीन ब्राह्मणों के धर्म सुनाता है।

इसयो पुब्बका आसुं सञ्ञतत्ता तपस्सिनो।
पंचकामगुणे हित्वा अत्तदत्थ मकारिसुं। २८६
न पसू ब्राह्मणा नासुं न हिरञ्ञं न धानियं
सज्झाय धन धञ्ञासुं ब्रह्मं निधि मपालयुं। २८७

अर्थात् पहले ब्राह्मण ऋषि, संयमी, तपस्वी थे। ज्ञानेन्द्रियों के पांचों विषयों को छोड़ कर आत्मोन्नति में ही लगे रहते थे। ब्राह्मण पशुयों का वध नहीं करते थे। उनके पास सुवर्ण धान्यादि कोई सांसारिक पदार्थ न थे। स्वाध्याय ही उन का धन धान्य था और ब्रह्मनिधि की वेदरूपी कोष की ही सदा रक्षा करते थे।

इस प्रकार प्राचीन ब्राह्मणों के बड़े सरल तथा सुन्दर शब्दों में गुण बखान करते हुए कहते हैं कि वह तण्डुल, घृत, तैलादि से यज्ञ किया करते थे। उन यज्ञों में गोवध, पशुवध कभी नहीं होता था। परन्तु समय के फेर से ब्राह्मण अपने धर्म से च्युत हो गये उन में विषयवासनायें बढ़ने लगी और लालच के वशीभूत होकर मंत्रग्रन्थन कर के, वेद मन्त्रों का यथेष्ट अर्थानुसार संग्रह कर के इक्ष्वाकुराजा के पास गये (ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा ओक्काकं तदुपागमुं) और कहा महाराज तुम्हारे पास बड़ा धन है यज्ञ करो। तब उसने अस्समेध, पुरिसमेध, सम्मापास, वाजपेय, निरग्गल यह पांच महायज्ञ किये जिन में सैकड़ों पशुवध किये गये और याजक ब्राह्मणों को दक्षिणा में खूब धन दिया गया। इस से पाठक यह न समझें कि बुद्ध का यह मत था कि उन्हीं ब्राह्मणों ने स्वेच्छानुसार वेद मन्त्र रचे। परन्तु प्राचीन "ब्राह्म-

णों के महत्व को दिखाते हुए ब्रह्मनिधि मपालयुं " पहले ही कह चुके हैं और यहां "मन्ते गन्थेत्वा" शब्द हैं जिस का स्पष्ट अर्थ यही है कि वेद मंत्रों का ग्रन्थन करके, संग्रह करके। इस कथन से हम यही परिणाम निकाल सकते हैं कि ब्राह्मणों ने कुच्छ मंत्रों का संग्रह करके और स्वेच्छानुसार विपरीत अर्थ कर के इक्ष्वाकु को कहा कि महाराज वेदों में यह यह कर्तव्य लिखे हैं उन को पूर्ण कराइये तब आप को स्वर्ग मिलेगा।

वेदरूपी खजाना सब का प्रियतम था अतः उसने उन के कथन को स्वीकार कर लिया।

इन्हीं पञ्चमहायज्ञों का वर्णन संयुत्तनिकाय के कोसल संयुत्त प्रथम वर्ग में भी किया है।

१. अस्समेधं पुरिसमेधं सम्मापासं वाजपेय्यं निरग्गलं
महायञ्ञा महारम्भा न ते होन्ति महप्फला।
२ अजेळका च गावो च विविधा यत्थ हञ्ञरे
न तं सम्मग्गता यञ्ञं उपयन्ति महेसिनो।
३. ये च यञ्ञा निरारम्भा यजन्ति अनुकूलं सदा
अजेळका च गावो च विविधा नेत्थ हञ्ञरे।
४. एतं सम्मग्गता यञ्ञं उपयन्ति महेसिनो
एतं यजेथ मेधावी एसो यञ्ञो महप्फलो।
५ एतं हि यजमानस्स सेय्यो होति न पापियो
यञ्ञो च विपुलो होति पसीदन्ति च देवता॥

१. अर्थात् अश्वमेध, पुरुषमेध, शम्यापाश (सत्रयाग जिसका दूसरा नाम शम्याक्षेप भी है) वाजपेय, निरर्गल (स-

र्वमेध) यह महायज्ञ जिन में महान् पाप किया जाता है कुछ भी फलदायक नहीं होते।

२. यहां अनेक बकरे, मेष, और गायें हनन की जाती हैं उस यज्ञ में ज्ञानशील, महर्षि सम्मिलित नहीं होते।

३. पापरहित यज्ञों को जो सदा अनुकूल (जो उन यज्ञों का वास्तविक अभिप्राय है उस के अनुकूल) करता है जिन में अनेक बकरे, मेष, और गायें नहीं हनन की जातीं

४. इस यज्ञ में ज्ञानशील, महर्षि सम्मिलित होते हैं। मेधावी मनुष्य इसी का यज्ञ करे, यही यज्ञ महान् फलदायक होता है।

५. इस यज्ञ के करने से कर्ता कल्याण का भागी होता है पापी नहीं होता। और यज्ञ महान् होता है तथा विद्वान् लोग प्रसन्न होते हैं।

तृतीय गाथा से पता लगता है कि अश्वमेधादि यज्ञ इ-क्ष्वाकु से पूर्व भी किए जाते थे परंतु उनमें हिंसा नहीं होती थी उनका प्रकार पश्चात् प्रचलित विधि से भिन्न था। उसका वर्णन हमें संयुत्त निकाय की अर्थ कथा में मिलता है। जिसे बुद्धघोष ने लगभग ४१५ ईस्वी में अशोक के पुत्र महेंद्र द्वारा सिंहल भाषा में रची हुई अर्थकथा को पालि में परिवर्तित किया था। उसमें दर्शाया है कि पहले यह पांचों यज्ञ राष्ट्र को संगठित रखने के विशेष साधन थे। परंतु पीछे इनके अर्थ वि-परीत करके उनमें पशुवध की प्रथा जारी की गई। यह सब वर्णन यहां देना प्रकृत विषय के लिए बहुत उपयोगी नहीं अतः उसे छोड़ दिया जाता है।

पाठक गण ! उपरोक्त घटना को दिखलाने का मेरा मुख्य प्रयोजन यही था कि जिससे हमें इस बात का पता लग सके कि वेदों के विपरीत तथा अयथार्थ अर्थ कितने दीर्घ काल से प्रचलित हैं। पालि भाषा में लिखित महावंश के अनुसार गौतम का पिता शुद्धोदन इक्ष्वाकु से ८२०१२ वां राजा था। इससे आप अनुमान कर सकते हैं कि वास्तविक वेदार्थ कब से अपरिज्ञात हो चुके हैं और उनके समझने के लिए कितनी कठिनाईयों का सामना करना पड़ेगा।

जिस किसी साहित्य का हम अध्ययन करना चाहें उसे उसी की भाषा का एकमात्र आश्रय लेकर अध्ययन किया जाता है। न जाने फिर इस सर्व व्यापक सिद्धान्त को वेद के लिए क्यों सदा के लिए वनवास दे दिया जाता है। प्राकृत नियम का उल्लंघन हम करते हैं परंतु वेदों को शंका प्रवाह की तीक्ष्ण धारा से अयथार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। मनुष्य केवल संस्कृत भाषा का अध्ययन करके इस बात की कल्पना कर लेते हैं कि अब हम वेदों के अर्थ भली प्रकार कर सकेंगे। बस यही अर्थ वेद का बिलकुल ठीक है क्योंकि हमने संस्कृत भाषा और उसके व्याकरण के अनुसार किया है। इस में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आसकती।

इसी संस्कृत भाषा को आधार में रखते हुए वह इस बात पर विश्वास रखते हैं और एक निश्चय बना लेते हैं कि वेदों में ऐसे उच्च भाव नहीं जो इन्हें अपूर्व सिद्ध करें; यह परमात्मा का ज्ञान नहीं, इसमें इतिहास पाया जाता है, यह केवल

वनेचरों के प्रमत्तगीत हैं, इसके अध्ययन से क्या लाभ ? इसमें अपना अपूर्व जीवन खोना मूर्खता है, इसमें प्रत्यक्ष वैज्ञानिक सिद्धान्तों के विपरीत पाया जाता है। इस प्रकार के संदेह उन्हें वेद से विमुख कर देते हैं। हां ! यह सब ठीक होता यदि वास्तविक मार्ग का अवलम्बन करने पर भी हम असली स्थान पर न पहुंच जाते। उस दशा में उपरोक्त परिणाम निकालने सुपरिणाम और सच्चे जंचते। परन्तु यदि देखा जावे तो हम तो मूल से ही बड़ी भारी भूल कर रहे हैं। हम किसी स्थान पर पहुंचने के लिए चल तो पड़े परंतु उत्तर की ओर मुख करने के स्थान पर दक्षिण की ओर मुख मोड़ लिया। निस्सन्देह हमने लक्षों मील चलकर निस्सीम प्रयत्न किया और अपनी सारी शक्तियें व्यय कीं परंतु हम उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सके। हमने अपना सारा जीवन उसी जगह पर पहुंचने के लिए अर्पण किया परंतु वह स्थान कुछ ही दिनों का रास्ता होने पर भी हम वहां पहुंच नहीं सके। यह उस स्थान का दोष नहीं परंतु यह हमारा ही दोष है जो चलने के मूल स्थान से ही बड़ी भारी भूल कर बैठे हैं। देखने में तो यह भूल बड़ी तुच्छ सी जान पड़ती है परंतु परिणाम बड़ा भयंकर निकलता है। यही अवस्था आजकल के वेदाध्ययन की है। हम वैदिक और संस्कृत भाषा को एक समझ कर संस्कृत भाषा के आधार पर वैदिक भाषा समझना चाहते हैं जो दक्षिण की तरफ मुख करने वाले की न्याईं सर्वथा विपरीत परिणाम दिखाती है।

इन दोनों भाषाओं में महान् अंतर है। केवल एक भाषा के परिज्ञान से दूसरी को पूर्णतया समझ सकना बड़ा दुष्कर

है। इस बात को बिलकुल स्पष्ट करने के लिए मैं पालि-भाषा के दो उदाहरण देता हूं। उससे उपरोक्त आवश्यक सिद्धांत ठीक २ समझ में आ सकेगा।

गौतमबुद्ध उपदेश देते हुए धम्मपद में कहते हैं—

१. मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो।
२. असद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो
हतावकासो वन्तासो सवे उत्तम पुरिसो।

इनका संस्कृत में अक्षरशः परिवर्तन इस प्रकार होगा—

१. मातरं पितरं हत्वा राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ
राष्ट्रं सानुचरं हत्वा अनघो याति ब्राह्मणः।
२. अश्रद्धोऽकृतज्ञश्च सन्धिच्छेदश्च यो नरः
हतावकाशो वान्ताशः सो वै उत्तमपुरुषः

सामान्यतः संस्कृत साहित्य की दृष्टि से इस का अर्थ यह होगा कि माता पिता, दोनों क्षत्रिय राजाओं और अनुचरों सहित राष्ट्र का घात करके दुःख पाप रहित ब्राह्मण (मुक्ति को) जाता है।

जो मनुष्य श्रद्धा रहित, कृतघ्न और सन्धि का छेद करने वाला है, जिसने अवकाश का नाश करदिया है और आशाओं को वमन कर दिया है निश्चय से वही उत्तम पुरुष है। इस में कोई सन्देह नहीं कि पालि संस्कृत से अधिकतम मिलती है परन्तु फिर भी पालि का अर्थ सर्वत्र संस्कृत की दृष्टि से नहीं

किया जासकता। पालि साहित्य को पालि भाषा की दृष्टि से ही देखना चाहिए नाकि संस्कृत के स्वरूप में। यदि हम यहां पर पालि की विशेषतायों को भुलादें तो महाअनर्थ होगा। और हम सहसा कह उठेगें कि यह बुद्ध वचन तो उन्मतप्रलापवत् हैं। कहां दुःखों, पापों से मुक्त हाना और कहां मातापिता आदि पूज्यतमों का हत्याकाण्ड ! कहां उत्तम पुरुष और कहां श्रद्धा से विमुखता तथा कृतघ्नता ! इनमें इतनी परस्पर विरुद्धता कि कहां पुण्यात्मा बनना और कहां उसके साधन महा-पातक नीच कर्म ! यह सब उपदेश किसी पागल या उन्मत्त मनुष्य के हैं।

परन्तु पालिभाषा के विचार से अर्थ करने पर इन का बड़ा उच्च तथा गम्भीर भाव प्रकट होता है। इन का वास्तविक अर्थ यह है–तृष्णा, अहंकार, शरीर को नित्य मानना तथा पुनर्जन्म को न मानना इन दोनों मिथ्यादृष्टियों और विषयों सहित चक्षुरादि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके ब्राह्मण दुःख से रहित होकर अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

(अश्रद्धः=अचलश्रद्धः) जो मनुष्य अपने श्रेष्ठ गुणों से विचलित नहीं होता, मोक्ष पर विश्वास रखता है और उस की प्राप्ति के साधन जानता है, जगत् में फंसाने वाले विषयों का नाश कर बैठा है, दुःसंस्कार की उपस्थिति का हनन कर चुका है, और आशायों को वमन की न्याई बाहर उगल चुका है, निश्चय से वही श्रेष्ठ मनुष्य है।

यह हैं उच्च अर्थ, यह है उच्च आशय जिस को दूसरी

भाषा के विचार से देखते हुए हम उन्मत्त मनुष्यों की बिलबिलाहट समझे हुए थे।

ठीक यही दशा वेद के साथ की जारही है। वैदिक-भाषा को संस्कृत से कोई भिन्न भाषा ही नहीं समझा जाता। संस्कृत भाषा पढ़ी और वेदों की आलोचना प्रारम्भ होगई। उसका परिणाम वही अवश्यभावी है जो उपरोक्त बुद्ध के वचनों के साथ किया जासकता है। हम वेद को एक दम उन्मादियों का प्रलाप कहेंगे, युक्तिशून्य कहेंगे, असंगत कहेंगे, विरुद्धार्थक कहेंगे, असंभवार्थक कहेंगे, तुच्छ वर्णन करने वाला कहेंगे अविस्पष्टार्थक कहेंगे और न जाने अन्य क्या२ वेदों पर अशंकायें की जावेंगी। भूल वेदाध्ययन करने वालों की है और दोषारोप किये जाते हैं वेदों पर।

I शब्दों के यौगिक अर्थ.

वैदिक भाषा में जो मुख्य नियम काम कर रहा है वह यह है कि इसके सब शब्द यौगिक हैं। जो अर्थ धातु और प्रत्यय के मिलने से बनता है वही उस शब्द का अर्थ होना चाहिए। इस प्रधान नियम के पोषक अधिक करके प्राचीन सभी विद्वान् पाये जाते हैं।

(१) महर्षि पतञ्जलि संस्कृत व्याकरण के प्रामाणिक विद्वान् हैं वह महाभाष्य में "उणादयोवहुलम्" सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:—

बाहुलकं प्रकृते स्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्
कार्यसशेष विधेश्च तदुक्तं नैगमरूढ़िभवं हि सुसाधु।

अर्थात् (क) उणादिपाठ में थोड़ी सी प्रकृतियों से, धातुयों से प्रत्यय विधान किए गए हैं ।

(ख) और उन प्रत्ययों का समुच्चय, संग्रह भी प्रायः करके है संपूर्ण नहीं । धातुयों से संम्पूर्ण प्रत्यय नहीं कहे गये परं थोड़े ही बताये गये हैं ।

(ग) तथा सूत्रों के कार्य भी सशेष हैं संपूर्ण नहीं । जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध किए जाते हैं उन में होने वाले कार्य्य वर्तमान सूत्र सम्पूर्ण नहीं करते ।

इन तीनों न्यूनतायों को बहुल शब्द दूर कर देता है ।

(क) जिन धातुयों से उक्त प्रत्यय नहीं कहे गये उन से भी वह प्रत्यय हो जाते हैं जैसे "हृष्" धातु से उलच् प्रत्यय कहा है परन्तु शङ्कुलः यहां शकि से भी हो जाता है ।

(ख) जो प्रत्यय किसी धातु से नहीं कहे वह भी पाये जाते हैं जैसे दा धातु से इष्णुच् प्रत्यय कहा है परन्तु देष्णः यहां पर इष्णच् भी हो जाता है ।

(ग) और जो कार्य सूत्रों से प्राप्त नहीं वह भी हो जाते हैं, जैसे आप् धातु से वन् प्रत्यय कर के "अप्वा" शब्द सिद्ध किया है यहां "आ" को हृस्व अ किसी सूत्र से प्राप्त नहीं था वह हो गया, अन्यथा "आप्वा" रूप होता है ।

अब इस में यदि किसी को सन्देह हो कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किए गए हैं और शब्दों की सिद्धि में जितने कार्य्य सूत्रों से हो सकते हैं उन में परित्र-

र्तन क्यों किया जावे ? तो इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार स्वयं देते हैं कि वैदिक शब्द और लौकिक संज्ञा शब्द भली प्रकार सिद्ध हो सकें-इस लिए उन में परिवर्तन किया जाता है, उणादिपाठ को अपरिपूर्ण समझा जाता है। यदि ऐसा न करेंगे तो सब वैदिक शब्द तथा संज्ञाशब्द सिद्ध नहीं किये जासकते।

यहां नैगम शब्दों को लौकिक रूढ़ि शब्दों से पृथक् रक्खा है जिस से यह निःशंक हो कर कहा जा सकता है कि पतञ्जलि सब नैगम शब्दों को आख्यातज या यौगिक मानते हैं। इसीलिये उन्हों ने स्पष्ट किया कि यदि वैदिक शब्द उणादिपाठ से भी सिद्ध न हो सकें तो उन्हें बहुल ग्रहण से प्रकृति प्रत्यय पता लगा कर सिद्ध कर लेना चहिए।

(२) इसीप्रकार यास्काचार्य कहते हैं "नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च" अर्थात् सब नाम शब्द धातुज हैं ऐसा शकट का पुत्र शाकटायन मानता है और यहा निरुक्तकारों का सिद्धान्त है। और इसी बात को पतंजलि ने "नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्यकरणे शकटस्य च तोकम्" इन शब्दों में दोहराया है। निरुक्त वेद की कुंजी है वेदाध्ययन में निरुक्त का आश्रय लेना परम प्रधान है। निरुक्त वैदिककोष निघंटु की व्याख्या है। उन कठिन शब्दों के अर्थ करने का मार्ग बतलाता है। यास्कने 'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः, कहते हुए निघण्टु को समाम्नाय कहा है। समाम्नायते समभ्यस्यते मर्यादया ऽयमिति समाम्नायः। जिस का नियमपूर्वक भलीप्रकार अभ्यास किया

जावे उसे समाम्नाय कहते हैं। निघंटुशब्दों को निगम भी ब-ताया है (तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते। निघण्टवः कस्मात् निगमा इमे भवन्ति) निश्चयेन गमयन्ति ज्ञापयन्ति म-न्त्रार्थानिति निगमाः। अर्थात् जो वेदमन्त्रार्थों को निश्चय से जतलाते हैं, जिन शब्दों के परिज्ञान से मंत्रार्थ निश्चयपूर्वक समझ में आसकें उन्हें निगम कहा जाता है। इसमें क्या प्र-माण है कि निघण्टुशब्दों के यथार्थ ज्ञान होजाने से मंत्रार्थ समझ में आ सकेगें ? इस आशंका का उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः" यह दुगम शब्द छन्दों से वेदों से ले ले कर पृथक् इकट्ठे किये हुए हैं। अतः उन दुर्गम शब्दों के परिज्ञान के विना मंत्रार्थों का जा-नना कठिन होगा। जब इसप्रकार वैदिक दुर्गमशब्दों के कोष की व्याख्या करते हुए निरुक्तकारों का यह निश्चित सिद्धान्त है कि वैदिक नामशब्द सब यौगिक हैं तो वेद के अनु-शीलनकर्त्ता को यह मूल सिद्धान्त अपनी दृष्टि से कभी दूर नहीं रखना चाहिए।

(३) वैदिक शब्दों की व्याख्या करने वाले दूसरे ग्रन्थ ब्राह्मण हैं। वह भी उपरोक्त नियम की ही पुष्टि करते दीख पड़ते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए ब्राह्मणों के कुच्छ एक उदा-हरण देने आवश्यक होंगे।

ऐतरेय ब्राह्मण की ६ पंजिका ५ अध्याय ६ खण्ड में परिक्षित का अर्थ करते हुए लिखा है "अग्नि र्वै परिक्षिद् अग्नि र्हीमाः प्रजाः परिक्षेति, अग्निं हीमाः प्रजाः

परिक्षियन्ति ……संवत्सरो वै परिक्षित् संवत्सरो हीमाः प्रजाः परिक्षेति, संवत्सरं हीमाः प्रजाः परिक्षियन्ति" अर्थात् अग्नि ही परिक्षित् है क्योंकि वह सर्व प्रजाओं में निवास करती है। अथवा अग्नि का आश्रय लेकर ही सर्व प्रजायें निवास करतीं है। इसी प्रकार संवत्सर भी परिक्षित् है।

इससे पता लगा कि परितः (सर्वत्र) क्षियति (निवसति) अथवा परितः क्षियन्ति एनम् इन दोनों व्युत्पत्तियों से जो कोई भी व्यापक या सब का निवासहेतु हो उसे परिक्षित् कहेंगे।

ii इमे वै सर्वे लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किंच। श०. ७. ३. १. २५। यहां सब पृथिव्यादि लोकों को सर्पणशील, गतिमान् होने से सर्प कहा है।

iii स्व.लमो ऽध्यर्ध इति योऽयं पवते…… यदस्मिन्निदं सर्वम् अध्यार्ध्नोत् (अधिकं वृद्धिं प्रापत्) तेनाध्यर्धः। शत० १४ ५. ७. १० यहां अध्यर्ध का अर्थ लौकिक साहित्य के अनुसार १½ नहीं परन्तु वायु है क्योंकि उसी के कारण यह सब जगत् वृद्धि को प्राप्त करता है। यदि वायु न रहे तो मनुष्य पशु पक्षि वनस्पति आदि कुछ भी जीवित न रह सके। इस प्रकार अर्ध का यौगिक अर्थ वृद्धि देने वाला बतलाया गया।

iv इयं वै पृथिवी पूषा, पशवो वै पूषा शत० ३.५.१.७, ३.५.२.१० यहां पृथिवी और पशुओं को पोषक होने के कारण पूषा कहा गया है।

एवं, ब्राह्मणों में स्थान २ पर वैदिक शब्दों को यौगिक मानते हुए अर्थ किये गए हैं। उनमें से यह केवल चार दिग्दर्शन

के तौर पर आप के समक्ष रखदिये हैं, कुछ एक अन्य उदाहरण आगे के लेख में आजावेगें।

(४) सायण ने वेदमन्त्रों के ऐतिहासिक अर्थ करते हुए शब्दों को रूढ़ि माना है। परन्तु वह भी इस सिद्धान्त में कृतकृत्य नहीं होसका। एक शब्द का यदि कहीं संज्ञावाची शब्द समझ कर अर्थ करता है तो दूसरे स्थल पर वह उसी अर्थ पर दृढ़ नहीं रह सका। वहां उसकी भी कोई पेश नहीं चली कि वह संज्ञावाची ही अर्थ करसके। दृष्टान्त के लिए सोमानं स्वरणं.........
औशिजः-ऋ० १.१८.१ में तो औशिजः का अर्थ उशिज् नामी मनुष्य का पुत्र करता है, परन्तु आदित्ते अस्य......वृषन्नु शिजो० ऋ० १. १३१. ५ में उशिजः का अर्थ "धर्म कामयमानाः जनाः" धर्म की इच्छा रखने वाले मनुष्य किया है। त्रितः कूपेऽवहितो० ऋ० १. १०५. १७ में त्रितः का अर्थ त्रित नामी ऋषि किया है "परन्तु यमेन दत्तं त्रित एनम्० ऋ० १. १६३. २ में त्रितः का "अर्थ पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेषु वर्तमान स्तीर्णतमो वा वायुः" किया है।

आवां विश्वाभिः......प्रियमेधा अहूषत ऋ० ८. ८. १८ में प्रियमेधाः का अर्थ 'एतत्संज्ञाः ऋषयः' करते हैं, परन्तु वयः सुपर्णाः.........प्रियमेधा ऋषयो.........ऋ० १०. ७४. ११ यहां प्रियमेधाः का प्रिययज्ञाः अर्थ करते हुए सूर्यरश्मियों का विशेषण कहा है।

यही हाल यजुर्वेद पर भाष्य करने वाले उवट महीधर का भी है। स्वामी दयानन्द वैदिक शब्दों को यौगिक मानने के

तने कट्टर पक्षपाती थे उसमें तो किसी को सन्देह ही नहीं। इस लिए उसकी सिद्धि में कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं।

यौगिक शब्दों की सिद्धि

यहां प्रकृति प्रत्यय स्पष्ट है वहां एक ही धातु से साधारण व्याकरण के अनुसार शब्द सिद्ध किया ही जाता है। परन्तु वेद में मुख्यतः चार और नियम काम करते हैं जिन को यहां देता हूं।

(१) वेद में यह कोई आवश्यक नहीं कि वैदिक शब्द एक ही धातु से सिद्ध किया जावे। यदि आवश्यकता पड़े तो दो तीन धातुओं को मिलाकर भी एक ही शब्द सिद्ध किया जासकता है। इस सिद्धान्त के पोषक निरुक्तकार तथा ब्राह्मणग्रन्थ दोनों पाये जाते हैं। "त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः। इता दक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्। स खलु एते रकारमादत्ते गकार मनक्तेर्वा दहतेर्वा नीपरः। नि० ७. १४ शाकपूणि निरुक्तकार अग्नि शब्द इण, अञ्जू या दह, और णीञ् इन तीन धातुओं से सिद्ध करता है। पहली धातु से अ दूसरी धातु से ग और तीसरी धातु से नि लेता है। इस प्रकार एक अग्नि शब्द में तीन गुण वर्णित हैं। जो गतिशील ज्ञानवान् या प्राप्त करने वाला हो, प्रकाशकर्त्ता या दाह करने वाला हो, और लेजाने वाला हो उसे अग्नि कहेंगे। अब इस के वाच्य अर्थ आग, परमात्मा, राजा, सेनानी, विद्वान् आदि कई प्रकरणानुसार किए जासकते हैं।

ii मित्रः प्रमीतेस्त्रायते १०. २१ मित्र शब्द यास्क ने मीञ् और त्रैङ् दो धातुयों से सिद्ध किया है। जो हिंसा से, मृत्यु से, दुःख से, कष्ट से, नाश से, रक्षा करने वाला हो उसे मित्र कहेगें।

iii शकुनिः शक्नोति उन्नेतु मात्मानम् ६. ३ शकुनि शब्द शक्ऌ, और उत् पूर्वक णीञ् इन दो धातुयों से बनाया है। जो अपने को ऊपर ले जासकता हो, उन्नत कर सकता हो उस का नाम शकुनि होगा। इस के अर्थ पक्षि, विद्वान्, आदि अनेक हो सकते हैं।

iv कपिञ्जलः कमनीयं शब्दं पिञ्जयति ३. १८ कपिञ्जल शब्द कमु और पिजि दो धातुयों से बनाया है जो सुन्दर मधुर प्रिय शब्द बोले वह कपिञ्जल कहा जा सकता है। चाहे वह पक्षि हो चाहे मधुरभाषी विद्वान् हो।

शतपथ ब्राह्मण १४.६.७.१ में हृदय शब्द हृ, दा, इण् इन तीन धातुयोंसे बनाया है। जो हर्ता हो, दाता हो, गन्ता ज्ञाता या प्राप्त करने वाला हो उसे हृदय कहेंगे। इस के अर्थ हृदय, मन, जीवात्मा, ब्रह्म आदि हो सकते हैं (एष प्रजापति र्यद् हृदय मेतद्ब्रह्मै तत्सर्वं। तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति, हृरित्येक मक्षर मभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, द इत्येक मक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, यमित्येक मक्षरमेति स्वर्गलोकं य एवं वेद)

(२) एक ही शब्द भिन्न २ धातुयों से भी पृथक् २ सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार धातुभेद से एक ही शब्द के अनेक अर्थ भी हो

सकते हैं। दृष्टान्त के लिए इषिरः शब्द है। इस को यास्क ने तीन धातुओं से सिद्ध किया है। एक ईष धातु से जिस का अर्थ गति है, दूसरा इच्छार्थक इषु धातु से, और तीसरा दर्शनार्थक ऋषी धातु से। इस से इषिर शब्द के गतिमान् ज्ञानवान् प्राप्तिमान्, इच्छामान् और दर्शनवान् इतने अर्थ हो जावेगें।

ii इन्द्र शब्द ११ धातुओं से सिद्ध किया है अतः उस के ११ अर्थ होंगें (इरां दृणाति) अन्न का विदारण करने वाला (इरां ददाति) अन्न दाता (इरां दधाति) अन्न का धारण करने वाला (इन्दवे द्रवति) इन्दु केलिए जाने वाला। (इन्धे-भूतानि) प्रकाशदाता (इदं करणात्) यह कार्य्य करने वाला, कर्त्ता (इदं दर्शनात्) यह कार्य देखने वाला, द्रष्टा (इन्दते र्वैश्वर्यकर्मणः) ऐश्वर्यवान् (इन्दन् शत्रूणां दारयिता) ऐश्वर्यवान् होता हुआ शत्रुयों का विदारण करनेवाला (इन्दन् यज्वनां आदरयिता) ऐश्वर्यवान् होता हुआ शिष्टों का आदरकर्ता।

iii अक्षाः शब्द अशूङ्, क्षि, क्षर तीन धातुओं से बनाया है अतः व्यापन करता है, निवास करता है, क्षरण होता है यह तीन अर्थ होंगे।

(३) भिन्न २ कारकों में प्रत्यय करने पर एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं जैसे अर्क शब्द में "एनम् अर्चन्ति" से पूज्य, "अनेन अर्चन्ति" से पूजा का साधन, "अर्चति भूतानि यः" से पूजाकर्ता यह तीन अर्थ होंगे।

ii तत शब्द "तन्यते अस्मात्" से पिता, "तन्यतेऽयं" से पुत्र, इन दो अर्थों को जतलाने वाला है।

iii अन्धस् "शब्द आध्यायते यत्" से जिसकी चिन्ता की जावे अर्थात् अन्न और "न अस्मिन् ध्यानं भवति" से अन्धकार, इन दो अर्थों को कहने वाला होगा।

iv समुद्र शब्द "समुद्द्रवन्ति अस्मात् आपः" से सागर और "समभिद्रवन्ति एनं आपः" से अन्तरिक्ष, इन दो अर्थों को बताता है।

[४] णिजन्त रहित तथा णिजन्त धातु से प्रत्यय करने से एक ही शब्द के दो अर्थ हो जाते हैं। जैसे ग्ना शब्द "गच्छति एनाम्" से स्त्री और "गमयति ज्ञापयति" से वेद तथा वाणी इन अर्थों का बोधक होता है। इसी लिए शतपथ ६. ४. २. ७ में "छन्दांसि वै ग्नाः" लिखते हुए छन्दों को, वेदों को ग्ना कहा है।

ii गो शब्द "गच्छति" से पृथिवी, आदित्य, रश्मि, गाय आदि अर्थों को कहता है और "गमयति इषून्" से धनुष का बोधक होता है।

वेदों के यौगिक शब्द मानते हुए मुख्यतः इन चारों नियमों का बड़ा प्रयोग पाया जाता है। वेदाध्ययन करते समय इन नियमों को बहुत कुछ भुला दिया जाता है जिस से अर्थ युक्ति युक्त नहीं जंचते। वैदिक भाषा से सर्वथा अपरिचित होने और संस्कृत साहित्य के वायु मण्डल में पले होने के कारण जब हम वेदार्थ करने बैठते हैं तो एकदम हमारे दिमाग़ में वही

संस्कृत के संकुचित और रूढ़ि अर्थ आ विराजमान होते हैं। हमारा उसके फन्दे से छूटना बड़ा दुष्कार होजाता है। हमारे मन में इसकी कल्पना ही नहीं होती कि इस का दूसरा अर्थ भी हो सकता है। इस लिए हमारे मनों में वेदों पर अनेक शंकायें उत्पन्न होती हैं। हम पूछते हैं इस शब्द का यह अर्थ कैसे हो-गया। हमें वहां खींचातानी प्रतीत होती है। परन्तु पाठकगण ! यह संस्कृत भाषा नहीं वैदिक भाषा है। अपने को उस समय वैदिकभाषा के वायु मण्डल में रखिए और आलोचना कीजिए. देखिए क्या परिणाम निकलता है। अब में उपरोक्त चारों मुख्य नियमों को दृष्टि में रखता हुआ आपके सन्मुख कुछ एक वेदमंत्र पेश करता हूं जिससे पाठकों को विदित होजावेगा कि वेदों के यौगिक अर्थ न करने से कितना अनर्थ होता है।

१. हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां
पितुमतीं मूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रि मश्विनावनीतम्
उन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति।

वेदों में आये हुए अश्वि देवतायों के बारे में सायणाचा-र्यादि विद्वान् लोग बड़ी विचित्र सी कल्पनायें करते हैं। वह कहते हैं कि अश्विन् नामी दो विशेष व्यक्ति थे उन्होंने अमुक अमुक कार्य किये। परन्तु क्या उनकी यह कल्पना सच है। नहा, शब्दों के यौगिक होने पर उनका यह कथन कभी संगत नहीं हो सकता। अश्विन् शब्द अशू व्याप्तौ और अशुङ् भोजने इन दो धातुयों से बना है।

[क] अश्नोति व्याप्नोतीति अश्वी । जो व्यापक या बहुत प्राप्त करने वाला हो उसे अश्विन् कहेंगे । इसी के द्विवचन में अश्विनौ रूप है । यास्क ने अश्विनौ के अर्थ द्यावापृथिव्यौ, अहोरात्रौ, सूर्याचन्द्रमसौ—द्युलोक पृथिवीलोक, दिनरात, सूर्यचन्द्र किए हैं, क्योंकि यह सब को प्राप्त किये हुए हैं।

[ख] अश्नाति कर्मफलं भुंक्ते इति अश्वी । जो कर्म फल का भोग करे वह अश्वी, अर्थात् भोक्ता मनुष्य। उसी का स्त्रीलिङ्ग में अश्विनी होता है जिसका अर्थ स्त्री है। "पुमान् स्त्रिया:" पाणिनि सूत्र के अनुसार यह व्याकरण का साधारण नियम है कि जब स्त्रीलिंग के साथ पुलिङ्ग आया हुआ हो तो एक शेष के समय पुल्लिग शेष रह जाता है अर्थात् अश्वी च अश्विनी च अश्विनौ यह रूप बनेगा। इस प्रकार अश्विनौ का अर्थ स्त्री पुरुष होगा।

(ग) अश्यते व्याप्यते इति अश्वी तौ अश्विनौ। यहां भाव में प्रत्यय करने से जो प्राप्त करने योग्य हों उन विद्वान् स्त्रीपुरुषों, राजाराज्ञी आदि को भी अश्विनौ कह सकते हैं। पता लगता है कि ऐतिहासिकों ने अश्विनौ से जो पुण्यकृत् दो विशेष राजा माने हैं उस भ्रम का मूल कारण यही है कि उन्होंने शब्दों की यौगिकता और पुमान्स्त्रिया: सूत्र को सर्वथा भुला दिया था। सम्भव है कि अश्विनौ का अर्थ राजानौ किया जाता होगा जिस का अर्थ राजाराज्ञी है। उन्होंने राजा च राजा च राजानौ ऐसा एकशेष समझ कर दो राजा अर्थ कर दिया।

(घ) अश्विनौ की चौथी सिद्धि अश्व शब्द से मतुप् अर्थ में इनि प्रत्यय करने से होती है जिसका अर्थ अश्ववन्तौ है। इसी लिए शतपथ ब्राह्मण में अश्विनौ का अर्थ सव्येष्ठा और सारथि किया है क्योंकि वह दोनों एक ही अश्वयुक्त रथ में बैठते हैं। सयोनी वा अश्विनौ, सयोनी सव्यष्ठृ सारथी समानं रथ मधितिष्ठतः ५. २. ५. ८।

(ङ) अश्व का अर्थ रश्मि भी होता है इसलिए रश्मि वाले सूर्य चन्द्र यह अर्थ भी हो सकेगा।

(च) अश्व अलंकाररूप से या यौगिक अर्थों में इन्द्रियों के लिए भी प्रायः आता है। अतः प्रशस्तार्थ में मतुप् प्रत्यय करने पर प्रशस्त इन्द्रियों वाले, जितेन्द्रिय इस अर्थ में भी अश्विनौ शब्द आसकेगा। इस प्रकार अश्विनौ के अर्थ प्रकरणानुसार कई हो सकते हैं। जिस को भुलाकर सायणाचार्य उपरोक्त वेदमन्त्र से इतिहास निकालते हैं कि असुर लोगों ने अत्रि ऋषि को शत द्वारों वाले पीड़ागृह में बन्द करके तुषों से अग्नि लगादी। ऋषि ने स्तुति द्वारा अश्वि देवतायों को प्रसन्न किया। उन्हों ने वहां पहुंच कर अग्नि को जल से शान्त किया और ऋषि को सर्वाङ्ग पूर्ण विना किसी हानि के निकाल लिया।

पाठकगण! अब आप निरुक्त का आश्रय लेते हुए वैदिक भाषा के मण्डल में आइये और देखिए क्या सुन्दर प्राकृतिक वर्णन पाया जाता है।

(अश्विनौ) हे द्युलोक पृथिवीलोको! तुम दोनों (हिमेन) जल से [अग्निं घ्रसं] अग्निवत् तीक्ष्ण तपाने वाले, दाह करने वाले दिनों को, ग्रीष्म दिनों को (अवारयेथां) दूर करते हो

जिस से [अस्मै पितुमतीं ऊर्जं अधत्तम्] इस के लिये, इस प्राणिमात्र के लिये अन्नयुक्त बल का प्रदान करते हो [ऋबी से अवनीतं अत्रिं उन्निन्यथुः] पृथिवी में नीचे गई हुई अग्नि को, तापको ऊपर उठाते हो। इस का फल क्या होता [सर्व-गणं स्वस्ति] सर्व प्राणिमात्र का कल्याण होता है।

ऋबीसम्==अपगत भासम्, जिसका प्रकाश चला गया हो, प्रकाश रहित हो, स्वयंप्रकाश न हो अर्थात् पृथिवी। अत्रिः—अत्ति इति अत्रिः जो खाने वाली हो, जलाने वाली हो अर्थात् अग्नि।

इस वेद मंत्र में ग्रीष्म काल और वर्षा काल का वर्णन है। ग्रीष्म ऋतु के दिन बड़े तीक्ष्ण तथा ताप देनेवाले होते हैं। पृथिवी के भीतर इतना ताप व्याप्त रहता है कि सब ओ-षधियें उस ताप से जल जाती हैं। वर्षा काल में वृष्टि होती है, दिन ठंडे हो जाते हैं, पृथिवी का ताप निकल जाता है। ओषधि वनस्पतियें खेतों में, वनों में लहलहाने लगती हैं। खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्राणियों को सुख मिलता है और उन का कल्याण होता है।

अब प्रश्न उठता है कि द्युलोक पृथिवीलोक को इस सब कार्य का कर्त्ता क्यों माना गया है। सूर्य की किरणें पृ-थिवी तल से जल को खींचती हैं। उन से मेघ बनते हैं और वृष्टि होती है। द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों मिलकर वृष्टि के कारण हैं जिससे उपरोक्त सर्व कार्य्य होते हैं अतः अश्विनौ का अर्थ द्यावा पृथिव्यौ करना ही ठीक प्रतीत देता है।

२. आथर्वणायाश्विना दधीचे अश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्
स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपिकक्ष्यं वाम्.

इस मंत्र का अर्थ सायण इस प्रकार करते हैं—हे अश्वियो ! तुम ने अथर्वा के पुत्र दध्यङ् नामी महर्षि के अश्वसंबन्धि शिर जोड़ा । उस का मानुष शिर काटकर उस की जगह घोड़े का शिर लगाया। और उस ने तुम दोनों को पूर्व प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए इन्द्र से प्राप्त की हुई मधुविद्या का उपदेश दिया । दर्शनीय अश्वियो ! शिर कटे हुए यज्ञ पर कक्ष प्रदेश से पुनः शिर जोड़ने वाली मधुविद्या को उस ने तुम्हें कहा।

कैसा विचित्र अर्थ है ! यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि वेदों में इतिहास है, तो क्या यह कभी सम्भव हो सकता है कि कोई अपना सिर काट कर और घोड़े का शिर लगाकर किसी को मधुविद्या, ब्रह्मविद्या का उपदेश देसके। कहां ब्रह्मविद्या और कहां घोड़े का सिर। ब्रह्मविद्या पहले ही बड़ी गूढ़ है उस के समझने समझाने के लिए अनेक कठोर साधनों की आवश्यकता है परन्तु यहां घोड़े के दिमाग़ से उस को शिक्षा दी जाती है। यह उदाहरण बिलकुल वैसा ही है जैसे मैंनें पहले माता पितादि का घात करके अनन्त सुख की प्राप्ति का उदाहरण त्रिपिटक में से दिया है। यह है फल वैदिकभाषा से अपरिचिति का है। यदि हम इस वेद मन्त्र का यही अर्थ मान लें तो हम वेदवाक्यों के साथ उतना ही अन्याय कर रहे होंगे जितना कि उस बुद्धवचन के साथ किया जासकता है।

इस मंत्र का अर्थ करने से पूर्व इस में आए हुए संदेहास्पद शब्दों पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है।

अश्विनौ के बारे में मैं पहले बतला चुका हूं कि किसप्रकार इस का अर्थ स्त्रीपुरुष होता है। दूसरा शब्द आथर्वण है। अथर्वा का अर्थ करते हुए यास्क लिखता है 'थर्वति श्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ११. १९ थर्व धातु गति अर्थ में आती है। अतः थर्वन् का अर्थ हुआ इधर उधर जाने वाली मतिवाला, अस्थिर बुद्धि-वाला मनुष्य। और न थर्वा अथर्वा अर्थात् स्थिरबुद्धि मनुष्य, जिस की मति क्षण क्षण में बदलने वाली न हो प्रत्युत परिपक्व दृढ़, स्थिर हो। अथर्वा एव आथर्वणः स्वार्थ में अण् प्रत्यय क-रने से जो अथर्वा का अर्थ है उसे ही आथर्वण शब्द प्रकट करता है। अथवा, अथर्वणोऽपत्यम् आथर्वणः। अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय करने पर भी आथर्वण शब्द सिद्ध हो जावेगा। परन्तु इस का अर्थ संस्कृत साहित्य की न्याईं यह नहीं समझना चा-हिए कि आथर्वण अथर्वा का पुत्र है। वेद में ऐसे स्थलों में पुत्रादि शब्द, या अपत्यार्थ प्रत्यय किसी गुण की अत्यन्तता, अधिकता के द्योतक होते हैं। यह शब्द या प्रत्यय गुणी के गुण को और उत्कृष्ट, उच्च, या महान् दिखाते हैं। दृष्टान्त के लिए किं ते कृण्वन्ति.........आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदः............इस वेद मंत्र की व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं मगन्दः कुसीदी तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्त कुसीदि कुलीनः ६. ३२ मगन्द का अर्थ है व्याज लेने वाला, उस का जो अपत्य वह प्रमगन्द अर्थात् अत्यन्त कुसीदी कुल वाला। यहां प्र शब्द तद्धितार्थ में है। मगन्दप्रभवः प्रमगन्दः=मगन्द का पुत्र।

यहां प्रभत्र के भत्र का लोप हो जाता है, जैसे प्रगतं अग्रम् प्राग्रम् में गत का लोप होता है। इस प्रकार वेद के उपरोक्त भाग का यह अर्थ होगा कि हे राजन्! (प्रमगन्दस्य) अपने राज्य में अत्यन्त व्याज खाने वाले मनुष्य के (वेदः) धन को (नः) हम श्रेष्ठ मनुष्यों के प्रति (आभर) आहरण करो। अर्थात् राजा का कर्तव्य है कि वह ऐसा प्रबन्ध करे कि उस के राष्ट्र में कोई मनुष्य अधिक व्याज न ले सके। यदि कोई लेता है तो उस की सम्पत्ति छीन कर उन्हीं में बांट दी जावे जिन से व्याज लिया था।

ii अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो
अस्मे धेहि जातवेदो महिश्रवः। यजु. १५. ३५

(सहसः यहो) हे बल के पुत्र—अत्यन्त बलवान् (जातवेदः) प्राप्त विज्ञान (अग्ने) ज्ञानवान् तेजस्वी नेता विद्वान्-इण्, अञ्जू, णीञ् धातुओं से अग्नि शब्द बना है।

(गोमतः वाजस्य ईशानः) प्रशास्तवाणी युक्त ज्ञान के अधिपति (अस्मे महि श्रवः धेहि) तुम हमारे में महान् श्रवण को महती विद्या को धारण करायो। यहां सहस् के पुत्र से अभिप्राय अत्यन्त बलवान् है।

iii इसी प्रकार "ओमासः चर्षणीधृतो.......दाशुषः सुतम्" ऋ. १. ३. ७ इस मंत्र में दाशुषः सुतम् का अर्थ अत्यन्त दान शील है। अतः वेदार्थ करते समय उपरोक्त नियम को भी सदा ध्यान में रखना चाहिए। इस नियम के भूलने से ही प्रायः वेद के वाचकवृन्द संबन्ध में पुत्रादि या अपत्य प्रत्ययान्त शब्दों के आजाने से मंत्रों का ऐतिहासिक अर्थ कर बैठते हैं।

तीसरा शब्द दधीचे है। यह दध्यञ्च् शब्द की चतुर्थी वि-भक्ति का रूप है। निरुक्त ने इसका अर्थ "दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानम्" किया है। ध्यानं प्रति अक्तः, ध्यान में जो गया हुआ हो, ध्यान में निमग्न हो, उस ध्यानरत महात्मा को दध्यङ् कहेंगे। ध्यान पूर्वक अञ्चू धातु से क्विन् प्रत्यय और ध्यान की जगह दधि आदेश करने से दध्यङ् शब्द सिद्ध होता है। अथवा, दधातीति दधिः आकारान्त धारणार्थक धा धातु से "आदृगम हन जन किकिनौ लिट् च" पाणिनि सूत्र से वेद में कि प्रत्यय और लिट्वत् होता है। लिट्वत् होने से धातु को द्वित्व हो जावेगा। अर्थात् जो धारण करने वाला हो, सारे ब्रह्माण्ड का धर्ता हो उस परमात्मा को दधि कहेगें। दधिम् अञ्चतीति दध्यङ्। उस धर्ता परमात्मा को जो प्राप्त करने वाला हो वह दध्यङ्। या जो विद्या धर्म को धारण करने वाले महात्मा को प्राप्त करता है उस सत्संग करने वाले विद्वान् धार्मिक मनुष्य को भी दध्यङ् कहेंगे।

चौथा शब्द अश्व्यम् है। जिस प्रकार अश्विन् शब्द दो धातुयों से बना है उसी प्रकार अश्व शब्द भी उन्हीं दो धातुयों से सिद्ध होता है। जो व्यापक हो, बहुत स्थानों में उपस्थित हो, शीघ्रगति वाला हो (अश्नुते अध्वानं) भोक्ता हो उसे अश्व कहेगें। इसीलिए शतपथ ने इस के भिन्न २ स्थानों पर अनेक अर्थ किए हैं। असौ वा आदित्य एषोऽश्वः ६. २. ३. २६ यहां आदित्य अर्थ, अग्निरेष यदश्वः ६. ३. १. २२ यहां अग्नि अर्थ, वीर्यं वा अश्वः २. १.४. २४ यहां वीर्य, पराक्रम अर्थ। शतपथ

की काण्वशाखा में उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः, संवत्सर आत्मा अश्वस्य मेध्यस्य, अहर्वा अश्वं पुरस्तात् महिमान्व जायत— इन स्थानों में काल अर्थ, रश्मियों के लिए अश्व शब्द का आना प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार अश्वशब्द के अनेक अर्थ होने पर भी अश्व्य का अर्थ घोड़े सम्बन्धि करना भूल है। ब्राह्मण के अनुसार इस का अर्थ वीर्य सम्बन्धि, वीर्यवान् या अग्नि सम्बंधि, तेजस्वी होगा। अर्थात् वह दिमाग़ जो सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को भी बड़ी शीघ्र समझ ले, बिलकुल शुद्ध और पवित्र हो उसे अश्व्य कहेंगे।

पांचवां शब्द मधु है। मधु का अर्थ है अत्यन्त प्रिय है। जो वस्तु अधिक प्रिय लगे उसे मधु कहते हैं। ब्रह्म ज्ञान से बढ़ कर संसार में मनुष्य के लिए अन्य कौनसी वस्तु प्रियतम हो सकती है, इसीलिए शतपथ ने ब्रह्मज्ञान को ही मधु के नाम से पुकारा है। इसी वेद मंत्र को देते हुए (१४. ४. ५. १७) उसने बताया है कि यहां मधु से अभिप्राय उसी मधुविद्या, ब्रह्मज्ञान से है। त्वाष्ट्रम्=त्वष्टा सम्बन्धि। त्वक्षति करोतीति त्वष्टा, सारे संसार के कर्ता रचयिता परमात्मा को त्वष्टा कहते हैं।

दस्रौ=यह शब्द दो धातुओं से बना है। एक दर्शनार्थक दसि धातु से, और दूसरा उपक्षयार्थक दसु धातु से। अतः इस का अर्थ दर्शनीय या दुःखों, कष्टों पापों का नाश करने वाले होगा। कक्ष्य=कर्म, निघण्टु में कक्ष्या शब्द अंगुलियों के लिए आता है क्योंकि प्रकाशयन्ति कर्माणि, यही सर्व क्रियाओं का प्रकाशन करती हैं। कक्ष्यासु भवं कक्ष्यम् भवेच्छन्दसि

से यत् प्रत्यय। अंगुलियों में जो होने वाले हों वह कक्ष्य अर्थात् कर्म।

अब उपरोक्त वेद-मंत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

(अश्विना) अश्विनौ! हे स्त्रीपुरुषो! तुम (आथर्वणाय दधीचे) अत्यन्त स्थिरबुद्धि, ध्याननिमग्न उपदेष्टा महात्मा के लिए [अश्व्यं शिरः] सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को भी शीघ्र समझ लेने वाले शुद्ध पवित्र तेजस्वी दिमाग़ को [प्रतिऐरयतम्] प्राप्त करायो [दस्रा] हे दर्शनीयो! या दुःखों, कष्टों के नाश करने वाले स्त्री पुरुषो! [सः ऋतायन्] वह महात्मा सत्य की इच्छा रखता हुआ, सत्य प्रचार की अभिलाषा से प्रेरित हुआ हुआ [वां] तुमको [त्वाष्ट्रं मधु] जगत्कर्ता प्रभु संबधि सब के प्रिय ब्रह्मज्ञान को [प्रवोचत्] कहे [अपि यत् कक्ष्यं] और जो कर्त्तव्य कर्म हैं उनका भी उपदेश दे।

इस वेद मन्त्र में कैसे सुन्दर शब्दों में बताया है कि सब स्त्री पुरुषों का यह परमधर्म है कि उन में जो अत्यन्त स्थिर बुद्धि, ध्यानी उपदेशक शिक्षक जन हों उन का पूर्णतया पोषण करें। उन को रहने सहने, खाने पीने का किसी प्रकार से कष्ट न होने दें। जब उनको किसी प्रकार की चिन्ता न होगी भोजन उत्तम, वीर्यवर्धक मिलता रहेगा, उनका दिमाग़ स्वच्छ होगा, उनकी बुद्धि कुशाग्र होगी। तब ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य उन्हें ज्ञान और कर्म दोनों की शिक्षा देगें। उन्हें ज्ञानशील और

कर्मशील बनाने के पूर्ण साधन होंगे। उनका भी यह कर्त्तव्य होगा कि वह राष्ट्र का अन्न खाकर उसके प्रत्युपकार में राष्ट्र को ज्ञानयोगी और कर्मयोगी बनावें, अन्यथा वह भी अपने धर्म से च्युत होते हैं।

साथ ही वेद मंत्र में यह भी बताया कि राष्ट्र का अन्न ग्रहण करने के वही अधिकारी हैं जो निश्चल प्रकृति, ध्यानी या संयमी हों। उनके अतिरिक्त दूसरों का कोई अधिकार नहीं। इसी उच्च आशय को बुद्ध ने धम्मपद में स्पष्ट किया है जिस का ठीक अनुवाद यह होगा कि तप्त अग्नि की शिखा के समान लोहे की गोली निगलजाना श्रेष्ठ है परन्तु राष्ट्र के दिये हुए अन्न को संयमरहित और दुःशील होकर खाना अच्छा नहीं [सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो। यं चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो]

३. सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते
कक्षीवन्तं य औशिजः। ऋक्, यजु.

इसका सायणादि ने ऐतिहासिक अर्थ इस प्रकार कियाहै-
हे ब्रह्मणस्पति नामक देव ! तू मुझ सोमरस के अभिषव-कर्त्ता को उशिज के पुत्र कक्षीवान् की तरह देवतायों में प्रसिद्धियुक्त कर।

अब आप वैदिकभाषा के अनुसार मंत्र पर विचार कीजिए।

सोमानम्=सूते ऐश्वर्यवान् भवतीति सोमा तम् सोमानं ऐश्वर्यवन्तम्। ऐश्वर्यार्थक षु धातु से औणादिक मनिन् प्रत्यय

करने से सोमन् शब्द सिद्ध होता है जिस की द्वितीया विभक्ति में सोमानम् है।

स्वरणम्=सु उपसर्ग पूर्वक, गत्यर्थक ऋ धातु से ल्यु प्रत्यय। गति के तीन अर्थ होते हैं ज्ञान, गमन, प्राप्ति। अतः स्वरणम् के सुज्ञानवन्तम्, सुगतिमन्तम्, सुप्राप्तिमन्तम् यह तीनों अर्थ संगत हो सकेंगे। अर्थात् साधुगति वाला साधु ज्ञान वाला, साधु क्रियाओं वाला, साधु प्राप्ति वाला। ब्रह्मणस्पते=ब्रह्मणः वेदस्य पते! वेद के स्वामी वेदज्ञान के प्रदाता परमात्मन्! परमात्मा को वेदपति क्यों कहा गया इसकी साक्षि हमें वेदों द्वारा ही स्पष्टतया मिलती है। ऋग्, यजु, अथर्व, तीनों वेदों में आए हुए तस्माद् यज्ञात् सर्व हुत ऋचः सामानि जज्ञिरे……इस मंत्र से तो परमात्मा द्वारा चारों वेदों की उत्पत्ति प्रसिद्ध ही है। परन्तु ऋग्वेद के १०. ७१. ३ मंत्र से भी परमात्मा का वेदपति होना स्पष्ट ज्ञात होता है। वह मंत्र यह है—

यज्ञेन वाचः पदवीय मायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते

इस मंत्र का अर्थ सामान्यतः लेख के प्रारम्भ में लिख चुका हूं। यहां उसे स्पष्ट करके दिखलाता हूं।

[यज्ञेन] पूजनीय परमात्मा से [वाचः पदवीयं] वाणी के मार्ग, वेदवाणी को मनुष्यों ने [आयन्] प्राप्त किया। वह वेद वाणी परमात्मा से मनुष्यों तक किस प्रकार पहुंची इसका उत्तर अगले भाग में देते हैं [तां] उस वेद वाणी को [ऋ-षिषु प्रविष्टां] ऋषियों में प्रविष्ट हुई हुई को, अर्थात् जिन ऋषियों

के हृदयों में वह वेदवाणी सब से पूर्व प्रकाशित हुई थी उन ऋषियों द्वारा [अन्वविन्दन्] मनुष्यों ने उपलब्ध किया। उन ऋषियों से अन्य मनुष्यों ने कैसे वेद वाणी प्राप्त की इसका उत्तर आगे देते हैं [तां] उस वेद वाणी को [आभृत्य] धारण करके [पुरुत्रा] बहुत्र, अनेक स्थलों में, स्थान स्थान पर [व्यदधुः] उन ऋषियों ने प्रकाश किया, प्रचार किया। इससे वह वेदवाणी सब मनुष्यों को उपलब्ध होगई। इस वेदवाणी की रचना कैसी है इस प्रश्न का उत्तर चौथे भाग में देते हैं। [तां] उस वेद वाणी को [सप्तरेभाः] सात यथार्थ वर्णन करने वाले छन्द [अभिसंनवन्ते] संगत किये हुए हैं। अर्थात् वह वेद सातछन्दों में रचित हैं।

इसी मंत्र के दूसरे तथा तीसरे पद का ठीक अनुवाद निरुक्त के शब्दों में इस प्रकार है "साक्षात् कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्संप्रादुः" जिनको सब से पूर्व धर्म का, वेद का साक्षात्कार हुआ ऐसे ऋषि हुए। उन्होंने दूसरे मनुष्यों को जिन्हें वेद का साक्षात्कार नहीं हुआ था, वेद का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था उपदेश द्वारा वेद मंत्रों को दिया, वैदिकज्ञान का अन्य मनुष्यों में प्रचार किया।

सप्तरेभाः—रेभ का अर्थ निघण्टु में स्तोता बतलाया है जो स्तुत्यर्थक रेभ धातु से बना हुआ है। जो वस्तु जैसी हो उस को उसी यथार्थ स्वरूप में जो वर्णन करे वह स्तोता या रेभ कहलाता है। वेद की रचना गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती,

पंक्ति, त्रिष्टुप् जगती इन्हीं सात छन्दों में पाई जाती है, आठवां कोई छन्द नहीं। इन्हीं सात छन्दों के मंत्र वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं अतः उपरोक्त मंत्र में छन्दों को रेभ या वर्णनकर्ता कहा गया। अभिसंनवन्ते=अभि सम् पूर्वक निघण्टु में पढ़ी हुई गत्यर्थक नु धातु से यह रूप बनता है।

इससे पाठकों को भलीप्रकार विदित होगया होगा कि परमात्मा को ब्रह्मस्पति वेदपति क्यों कहा गया।

कक्षीवन्तम्= कक्ष्यासु अङ्गुलिषु भवाः कक्ष्याः क्रियास्ता प्रशस्ताः विद्यन्ते यस्य तं कक्षीवन्तम्। कक्ष्या का अर्थ क्रिया, कर्म किस प्रकार है यह पहले लिखचुका हूं। कक्ष्या शब्द से प्रशस्तार्थ में मतुप् प्रत्यय करने पर कक्षीवत् शब्द सिद्ध होता है अर्थात् प्रशस्त, श्रेष्ठ कर्म करने वाला मनुष्य।

ii शब्द कल्पद्रुम में कक्षा शब्द को समता अर्थ में देते हुए कक्षावान् का यह अर्थ किया है—कक्षा सर्ववस्तुनि साम्यं सा विद्यते यस्य सः कक्षावान्। अर्थात् जिसकी सर्व वस्तुओं में समता बुद्धि हो, सर्व प्राणिमात्र को एक दृष्टि से देखने वाला हो, किसी भी सांसारिक वस्तु में विशेष प्रेम न हो उस महात्मा पुरुष को कक्षावान् कहेंगे। वेद में आकार को ईकार करते हुए उसी को कक्षीवान् के नाम से पुकारा है। इसी भाव को मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे इस वेद मंत्र में जतलाया है।

औशिजः=वष्टे कामयते इति उशिक्, कान्त्यर्थक वश् धातु से औणादिक इजि प्रत्यय। आथर्वण की तरह उशिक् से स्वार्थ

यँ या अपत्यार्थ में अण् करने से औशिज शब्द सिद्ध होता है। कान्ति के दो अर्थ होते हैं एक कामना, इच्छा दूसरा शोभा, तेज । अतः आथर्वण की तरह औशिजः का अर्थ अत्यन्त इ-च्छावाला या अत्यन्त तेजस्वी हुआ।

ii शब्द कल्पद्रुम में औशिज का अर्थ परमात्मा का पुत्र किया है। "उशिक् कमनीयं ब्रह्म तस्य पुत्रः। उशिक-कमनीय, तेजस्वी ब्रह्म, उसका पुत्र।

अब वेदमंत्र का अर्थ बिलकुल स्पष्ट है। (ब्रह्मणस्पते) हे वेदपते परमात्मन्! (यः औशिजः) जो अत्यन्त इच्छुक, या तुम्हारा सच्चा पुत्र है उसको (सोमानं) ऐश्वर्यवान् (स्वरणं) साधु ज्ञानवान् (कक्षीवन्तं) और प्रशस्त कर्मशील, या सांसारिक सब पदार्थों को समान दृष्टि से देखने वाला (कृणुहि) कीजिए। यत् तत् का नित्य संबन्ध होने से यहां तम् का अध्याहार किया जावेगा।

जिस मनुष्य को ज्ञानी या कर्मयोगी बनने की उत्कट अ-भिलाषा ही नहीं वह किसी तरह भी कोई प्रयत्न करने को उद्यत नहीं होता। जब तक प्रयत्न कुच्छ न किया जावे, मनुष्य निष्क्रिय बना रहे तब तक लाख प्रार्थनायें करने पर भी कुछ फल नहीं होता। प्रार्थना वहीं फलीभूत होती है यहां प्रार्थना के अनुकूल कर्म भी किया जावे अतः प्रार्थना का अधिकारी होने लिये मनुष्य को उन गुणों की इच्छा वाला होना आवश्यक है। या, हम संसार में देखते हैं कि जो पुत्र पिता का सच्चा पुत्र, पिता का प्यारा, या उसका आज्ञा पालक

होता है उसे पिता सदा प्रेम की दृष्टि से देखता है, उसको उच्च बनाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। इसी प्रकार यहां दर्शाया है कि परमात्मा उसी को ज्ञानी और कर्मयोगी बनाते हैं जो उसका पुत्र उस में श्रद्धा रखने वाला, उसका आज्ञा पालक, उसका भक्त हो।

४. उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नी रिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनीराट्
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवी र्य ऋतुर्जनीनाम्

यह मंत्र ऋग्वेद अथर्ववेद दोनों में आया है। इसका अर्थ सायण और उस के अनुयायी रूढ़ि शब्दों को लेकर इस प्रकार करते हैं कि देवताओं की पत्नी स्त्रियें हविः का भक्षण करें जो इन्द्र की पत्नी, अग्नि की पत्नी, अश्वियों की पत्नी रुद्र की पत्नी, वरुण की पत्नी हैं। यह सब देवपत्नियें सुनें और जो स्त्रियों का काल है उस समय हवि का भक्षण करें।

इस के पूर्व कि मैं वेद मंत्र का वैदिक भाषा की दृष्टि से अर्थ आपके सामने उपस्थित करूं, इस से पहले मंत्र पर विचार कर लेना उचित होगा। फिर मंत्र का अर्थ स्पष्टतया समझ में आ सकेगा। वह मंत्र यह है—

देवानां पत्नी रुशती रवन्तु नः
प्रावन्तु न स्तुजये वाजसातये
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते
ता वो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत

(देवानां पत्नीः) विद्वानों, श्रेष्ट पुरुषों की पत्नियें (उ-

शती:) इच्छा रखती हुई, हमें चाहती हुई (नः अवन्तु) हमें प्राप्त हों। देवानां पत्नीः यह भाविनी संज्ञा है। जिस प्रकार कोई जुलाहे को कहे कि इस सूत की धोती बनादो तो उसका अभिप्राय यही होता है कि बुनने के पश्चात् जिस का नाम धोती पड़ेगा वह वस्त्र बनादो। इसी प्रकार यहां उन कुमारियों को देवपत्नी के नाम से पुकारा है जो विवाहित हो जाने पर विद्वानों की पत्नियें बनेंगी। अथवा देवानां पत्न्यः रक्षिकाः देवों की, श्रेष्ठ गुणों की रक्षा करने वालीं, उत्तम गुणों को धारण करने वाली कुमारियें यह भी अर्थ हो सकता है। (तुजये) बलवान् संतान तथा (वाजसातये) अन्नलाभ के लिये (नः प्रावन्तु) हमारे से प्रकृष्ट प्रेम करने वाली हों। अव धातु के धातुपाठ में १६ अर्थ बताये हैं जिन में से गति और प्रीति भी हैं अतः पहले अवन्तु का अर्थ गत्यर्थक मानकर प्राप्नुवन्तु किया है और दूसरे प्रावन्तु का प्रीत्यर्थक मान कर प्रकर्षेण प्रीतियुक्ताः भवन्तु किया है। यदि इस प्रकार भिन्न २ अर्थ नहीं किये जावेंगे और सायण के अनुसार दोनों जगह रक्षन्तु ही अर्थ किया जावे तो "अवन्तु" का मंत्र में दुबारा पाठ आना निरर्थक होगा।

(याः पार्थिवासः) जो पृथिवी में विख्यात [अपि याः अपां व्रते] और जो व्यापक परमात्मा के व्रत में, आराधना में, परमात्मा की आज्ञा पालन में रत हैं [ताः सुहवाः देवीः] जिनका आह्वान, जिन का स्वयं स्वीकरण साधु है वह देवियें [नः शर्म यच्छत] हमें सुख प्रदान करें।

तदेवाग्नि स्तदादित्य स्तद्वायु स्तदु चन्द्रमाः
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः

इस यजुर्वेद मंत्र में परमात्मा को आपः नाम से पुकारा है। यह शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। "आप्नोतेर्ह्रस्वश्च" इस उणादि सूत्र से आ को ह्रस्व अ हो जाता है अतः जो आपः का अर्थ है वही अपः का भी है। इसलिए मैंने उपरोक्त मंत्र में अपः का अर्थ व्यापक परमात्मा किया है। इस वेदमंत्र में परमात्मा ने उशतीः और सुहवाः शब्द देते हुए स्वयंवर विवाह का उपदेश दिया है। कन्या जिस को अपना पति चाहे जिस को अपना पति बनाना स्वीकार करे, और इसी प्रकार पति जिस कन्या का अपने घर में आह्वान, बुलाना उत्तम समझे, जिस देवी को स्वीकार करने की अभिलाषा रक्खे उन्हीं दोनों में विवाह संबन्ध होना चाहिए। इस के विरुद्ध उन की इच्छायों के प्रति कूल न होना चाहिए। साथ ही परमात्मा ने यह भी उपदेश दिया कि जिन पति पत्नी में प्रकृष्ट, गाढ़ प्रेम होता है उन्हीं को संतान बलवान् होती है और घर में सर्वप्रकार से संपत्ति की वृद्धि होती है।

पाठक गण! इस से आप को प्रकरण का परिचय भलीप्रकार हो गया होगा। अब असली वेदमंत्र पर विचार कीजिए। उस मंत्र में पहला शब्द उत है जिस का अर्थ अपिच, या और है। यह शब्द दो बातों का संयोग करता है। पूर्व मंत्र में किस प्रकार के स्त्री पुरुषों में विवाह संबन्ध होना चा-

लिए यह बता चुके हैं। अब इस मंत्र में विवाह के पश्चात् पति पत्नी किस प्रकार सहवास करें, उनका क्या कर्तव्य होना चाहिए इस बात को जतलाते हैं। इन्हीं विवाह से पूर्व और विवाह से पश्चात् की दोनों बातों को उत शब्द मिलाता है। ग्नाः=यह मैं पहले लिख चुका हूं कि शतपथ के अनुसार ग्ना का अर्थ छन्द या वेद भी है। गमयन्ति ज्ञापयन्ति एनाः धर्मादिकम्—क्योंकि यह धर्मादिक को बताते हैं।

व्यन्तु=यह क्रियाशब्द वी गति व्याप्ति प्रजनन कान्त्य सन खादनेषु इस धातु से बना हुआ है। गत्यर्थक होने से जानन्तु यह अर्थ भी हो सकेगा।

(उत) और (देवपत्नीः) विद्वानों, श्रेष्ठजनों की पत्नियें (ग्नाः) वेदों को (व्यन्तु) जानें। वह विद्वानों की स्त्रियें कौनसी हैं उन को गुणानुसार पृथक् २ जतलाते हैं। (इन्द्राणी) ऐश्वर्यशाली मनुष्य की पत्नी (अग्नायी) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष की पत्नी (अश्विनी राट्) प्रामण्य, सब प्रजा के आश्रय भूत राजा की पत्नी राणी (रोदसी) रौति उपदिशतीति रुद्रः। उपदेष्टा मनुष्य की पत्नी और (वरुणानी) वरणीय, श्रेष्ठ मनुष्य की पत्नी। यह सब ऐश्वर्यशाली, तेजस्वी, राजा, उपदेष्टा, और वरणीय महात्मा पुरुषों की पत्नियें वेदों को जाने। उन में से प्रत्येक (आभृणातु) भली प्रकार अपने धर्म को सुने और (देवीः) यह देविऐं [यः जनीनाम् ऋतुः] जो स्त्रियों का ऋतु काल है उसी समय (व्यन्तु) मैथुन धर्म के लिए पति के पास जावें। यत् तत् का नित्य सम्बन्ध होने से तस्मिन्-उस समय इस का अध्याहार करना होगा।

यदि सायण के अनुसार ग्ना का अर्थ स्त्री और दोनों जगह व्यन्तु का अर्थ भक्षयन्तु किया जावे तो ग्नाः शब्द की कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि देवपत्नीः, देवतायों की पत्नियें इसी से उनका स्त्री होना स्वयं सिद्ध है । इसी प्रकार एक व्यन्तु पद निरर्थक होगा, दो जगह भक्षण करें कहने से कोई लाभ नहीं । अतः सायणादिकों का अर्थ संगत नहीं ।

इस वेद मंत्र में बताया गया है कि विवाह के पश्चात् स्त्री वेदों को भुला न दे परन्तु उन को जाने, पातिव्रत धर्म को पूर्णतया सुने, और ऋतुगामिनी रहे ऋतुकाल के अतिरिक्त सदा ब्रह्मचारिणी रहे ।

वाचकवृन्द ! मैंने उदाहरण के तौर पर चार मंत्र उपस्थित करते हुए इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि वेदाध्यन करते समय हमारा वेदार्थ करने का मूल आधार यह होना चाहिए कि हम उन के यौगिक अर्थ करें, संस्कृत साहित्य में आये अर्थों के अनुसार संकुचित अर्थ न करें ।

अब हम दूसरी बात पर

२. वेदों में हीनोपमा तथा लुप्तोपमा. आते हैं जिसको वेदार्थ करते समय ध्यान में रखना अत्यावश्यक है । यास्क उपमा के दो भेद करते हैं एक श्रेष्ठोपमा और दूसरी हीनोपमा । ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वोपमिमीते । अथापि कनीयसा ज्यायांसम् नि० ३. १४ अर्थात् किसी महान् या प्रसिद्धतम गुण से छोटे या अप्रसिद्ध गुण को उपमा देनी । जैसेः——

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः

(एषां) इन जितेन्द्रिय महात्मा पुरुषों का (ज्योतिः सूर्यस्य वक्षथः इव) तेज सूर्य के तेज की न्याईं है (महिमा समुद्रस्य इव गभीरः) इनकी महिमा समुद्र की न्याईं अथाह है (प्रजवः वातस्य इव) इन की गति, मानसिकगति, वायु की न्याईं सर्वत्र व्याप्त है (वसिष्ठाः) इसलिये हे जितेन्द्रिय महापुरुषो ! [वः स्तोमः] तुम्हारी स्तुति, तुम्हारे गुणवखान [अन्येन अन्वेतवे न] अन्य साधारण मनुष्य से प्राप्त करने योग्य नहीं। उन के लिये उन सब गुणों का बखान करना ही बड़ा कठिन है, प्राप्त करना तो दूर रहा।

यहां एक महापुरुष की तेजस्विता गम्भीरता और ज्ञान बाहुल्य को जतलाने के लिये उस से उत्कृष्ट सूर्य के तेज, समुद्र की गम्भीरता और वायु की व्यापकता से उपमा दी है।

इस प्रकार की उपमायें लोक में और संस्कृतसाहित्य में अधिकतर पाई जाती हैं परन्तु यहां छोटे से बड़े को उपमा दी हो, नीच से उच्च को उपमा दी हो ऐसी हीनोपमायें संस्कृतसाहित्य में प्रयुक्त नहीं होतीं। उनका प्रयोग वेद में बहुत पाया जाता है। लौकिक व्यवहार और संस्कृत साहित्य से प्रभावित होने के कारण जब मनुष्य वेद का अध्ययन प्रारम्भ करता है उसे ऐसी हीनोपमायें बड़ी खटकती हैं। उस ने संस्कृत साहित्य में सदा पहले प्रकार की ही उपमायें पढ़ी और सुनी होती हैं, उसीप्रकार की उपमायों

में वह पला हुआ होता है। उस के मन में यह बात पूर्णतया जमी हुई होती हैं कि उपमायें सदा उच्च ही होनी चाहिएं। इसीलिए वेदाध्ययन करते समय जब उस से विपरीत हीनोपमायें दीख पड़ती हैं तो वह असंगत भान होती हैं। उपमा का प्रयोजन यही होता है कि किसी गुण को दूसरी प्रसिद्ध वस्तु के गुण द्वारा स्पष्ट करके समझा सकें। जैसे बुद्ध भगवान् सूर्य की न्याईं तेजस्वी था- इस में बुद्ध के महान् तेज को सूर्य की उपमा देकर स्पष्ट किया है। यह स्पष्टता यहां से होसके की जा सकती है चाहे वह हीनोपमा हो चाहे श्रेष्ठोपमा। वेद के उदाहरण देने से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

सुगु रसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदि मुत्सिनाति

[प्रातरित्वः] हे प्रातःकाल आने वाले अतिथे ! [यः] जो मनुष्य [त्वा आयन्तं] तुझ आये हुए को [मुक्षीजया पदिम् इव] बन्धन से जानेवाले मृगपक्ष्यादि की न्याईं (वसुना उत्सिनाति) धन से बांधता है वह पुरुष [सुगुः] शोभन धनों वाला-यहां गौ शब्द धनमात्र का उपलक्षण है। ऐसे उपलक्षण वेद में बहुत आते हैं उन पर भी बड़ा ध्यान देना चाहिए। [सुहिरण्यः] अच्छे यशवाला—शतपथ में यशो वै हिरण्यं, तेजो वै हिरण्यम् इन स्थलों पर हिरण्य को यश और तेज कहा है।

(स्वश्वः) साधु वीर्यवाला—अश्व का अर्थ वीर्य पहले ब्राह्मण का प्रमाण देकर लिख आया हूं [असव्] होता है, और [अस्मै इन्द्रः] इस अतिथि सत्कार करने वाले को परमैश्व-

भगवान् परमात्मा [बृहत् वयः] बड़ी आयु [दधाति] देता है। यहां, अतिथि को धन से बांधे इस उच्च भाव को स्पष्ट करने के लिये एक नीच उपमा दी है कि जैसे पक्षि आदि को बंधन से बांधा जाता है उसप्रकार बांधे। अर्थात् जैसे पक्षि का जाल से बन्धन आकस्मिक होता है और दृढ़ होता है इसी प्रकार घर में आए अतिथि का धन से आतिथ्य सत्कार इस प्रकार किया जावे कि इस का एकदम उस से घनिष्ठ संबन्ध हो जावे। दाता के आतिथ्य सत्कार को देख कर अतिथि अत्यधिक प्रभावित हो और उस के लिये सदा मंगल कामनायें रखता रहे। यहां संबन्ध में आकस्मिकता और दृढ़ता दिखलाने के लिये उपरोक्त हीनोपमा दी गई है।

अब वेद मंत्र का भाव बिलकुल स्पष्ट है कि जो मनुष्य घर में आये अतिथि का आतिथ्य सत्कार बड़े प्रेम तथा दिल से करता है और उसके हृदय को उस दान से अपनी ओर भली प्रकार आकर्षित कर लेता है, वह सुधनवान्, सुयशस्वी, सुवीर्यवान, और दीर्घजीवी होता है। उस के धन, उसके यश, उसके वीर्य और उसकी आयु इन चारों की वृद्धि होती है।

इसी अतिथि पूजा की महिमा को प्रदर्शित करते हुए मनु महाराज ने ठीक इस मंत्र का अनुवाद अपने शब्दों में इस प्रकार किया है—

न वै स्वयं तदश्नीयादथितिं यन्न भोजयेत्
धन्यं यशस्य मायुष्यं स्वर्ग्यं वा तिथि पूजनम् ३.१०

जो वस्तु किसी अतिथि को न खिलादी गई हो उसको स्वयं कभी भोजन न करे, अर्थात् अतिथि को भोजन कराये बिना गृहस्थी को स्वयं भोजन करना उचित नहीं। यह अतिथि पूजा धन को, यश को, आयु को और अत्यन्त सुख को देने वाली है। इसी अतिथ्य सत्कार पर गौतमबुद्ध ने भी बड़ा बल दिया था। लंकाद्वीप के बौद्ध गृहस्थियों में अभी तक यह प्रथा जारी है कि जब तक कोई भिक्षु भिक्षा नहीं ले जाता वह भोजन नहीं करते। वैदिकधर्म में गृहस्थियों के लिए नित्यप्रति कर्तव्य पांचयज्ञों में एक अतिथियज्ञ भी विहित है।

२. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि
यो दासं वर्ण मधरं गुहा कः।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्ष मादद्
अर्य्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः।

(जनासः) हे मनुष्यो (येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि) जिसने इन सब नश्वर लोक लोकान्तरों की रचना की है [यः दासं वर्णं] जिसने दर्शनीय रूप को, जीवात्मा को (गुहा अधरं अकः) हृदय में नीचे के ओर स्थापित किया है, अर्थात् जिस के नियमानुसार शरीर धारण करते समय जीवात्मा का निवास स्थान हृदय स्थल होता है। (यः अर्य्यः) जो सब का स्वामी (जिगीवान्) तथा जयशील (श्वघ्नी इव लक्षं आदत्) कुत्ते मारने वाले की न्याईं अपने लक्ष्य को ग्रहण करता है, जैसे कुत्ते मारने वाला अभ्यस्त

मनुष्य अपने लक्ष्य से कभी चूकता नहीं इसीप्रकार जो अपने प्रारब्ध कर्म में कभी न चूक कर उस को तत्क्षण पूर्ण करता है (पुष्टानि) और जिस से सब नश्वर लोक लोकान्तर पुष्ट हैं, धारित किये हुए हैं (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर्यवान् सब का स्वामी परमात्मा है। अर्थात् परमात्मा ही सारी सृष्टि का कर्ता और धर्ता है। यह सृष्टि अविनाशी नहीं परन्तु नश्वर है। जीवात्मायों को शरीर धारण कराने वाला भी परमात्मा ही है। यह जीवात्मा हृदयाकाश में रहता है। सब का स्वामी परमात्मा जिस कार्य को करता है उस में उसे विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह सब कार्य सहजतया विना चूकने के पूर्ण हो जाते हैं। उपरोक्त मंत्र का भाष्य करते हुए जो सायण ने "यो दासं वर्ण मधरं गुहा कः" का अर्थ यह किया है कि जो निकृष्ट दासवर्ण को, शूद्रवर्ण को गुहा में, गुप्त स्थान में, नरक में भेजता है—वह ठीक प्रतीत नहीं देता। जहां ऐसा अर्थ करने से इस का अन्य वेद मंत्रों से विरोध आता है वहां गुहा को गुफा के अर्थ में लेकर पुनः नरक की कल्पना करनी बड़ी क्लिष्ट तथा असंगत है। जो सरल तथा वैदिकभाषा के अनुसार स्पष्ट अर्थ निकलते हों वही करने चाहिए। गुहा हृदयाकाश के लिये सामान्यतः संस्कृतभाषा में भी आता है।

दास की सिद्धि उणादि कोष में "दंसेष्टटनौ न आ च" इस सूत्र से की गई है। अर्थात् दर्शनार्थक दसि (दंस्) धातु से ट प्रत्यय करके और नकार की जगह आत्व करके दास शब्द सिद्ध किया गया है अतः इसका अर्थ दर्शनीय होगा।

ii निरुक्तकार ने भी दस्र का अर्थ (६.२६) दर्शनीय किया है जो कि उसी धातु से बनता है केवल प्रत्यय में भेद है। दास का अर्थ उपक्षय करने वाला, नाश करने वाला भी होता है परन्तु वह "दसु उपक्षये" धातु से बनता है। अतः यह आवश्यक नहीं कि सब जगह दास का अर्थ नीच या तुच्छ मनुष्य ही किया जावे।

सब उपनिषदें एक स्वर से हमें यही बताती हैं कि जीवात्मा का निवास स्थान गुहा-हृदय ही है। दृष्टान्त के लिये आत्मास्य जन्तो र्निहितो गुहायाम् कठ २.२० आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः श्वेता ३.२० निहितं गुहायां परमे व्योमन् तैत. २.१.१ एतद् यो वेद निहितं गुहायाम् मुण्ड० १.१० इन उपनिषदों में जीवात्मा को हृदय में ही निहित कहा है। तब इस स्पष्ट और संगत अर्थ को छोड़कर सायण का दूसरा क्लिष्ट अर्थ करना उचित प्रतीत नहीं देता। सायण का अर्थ एक और कारण से भी संगत नहीं है। उपरोक्त मंत्र में पहले परमात्मा को विनाशी वस्तुओं का उत्पादक कहा है। उससे सन्देह होगा कि क्या शरीरधारी जीवात्माओं का कर्त्ता भी परमात्मा है ? तब इस का उत्तर अगले भाग में दिया है कि वह दर्शनीयस्वरूप जीवात्मा को हृदय में स्थापित करता है। अर्थात् वह जीवात्माओं को बनाता नहीं, वह तो अनादि हैं केवल उन्हें कर्मानुसार शरीर देते हुए हृदय स्थल में निहित करता है। यह परमात्मा का नियम है कि जब जीवात्मा किसी शरीर में आवे तो वह हृ-

दय में रहता है। वहां शूद्रों को नरक में फेंकता है यह प्रकरण कहां से आजावेगा।

इस वेद मंत्र में हीनोपमा द्वारा सृष्टि रचना में परमात्मा की सहजता स्वाभाविकता, और न चूकने के भाव को स्पष्ट किया है।

इस प्रकार वेद में हीनोपमायों का प्रयोग बहुत है। उसका अभिप्राय जैसे मैं पहले लिख चुका हूं किसी विशेष गुण को स्पष्ट करना है, उस से वेदों की महत्ता न्यून नहीं होजाती परन्तु बढ़ती ही है।

उपमा के यह दो भेद (श्रेष्ठोपमा, हीनोपमा) शब्दोपमा तथा लुप्तोपमा दोनों प्रकार की उपमायों के हो सकते हैं। शब्दोपमा भी श्रेष्ठोपमा और हीनोपमा हो सकती है, तथा लुप्तोपमा भी श्रेष्ठ, हीन दोनों होसकती है। निरुक्त ने लुप्तोपमा को अर्थोपमा के नाम से भी पुकारा है क्योंकि वहां उपमा अर्थ से ही जानी जा सकती है। यह दोनों प्रकार की उपमायें संस्कृत साहित्य और वेद दोनों में सामान्य हैं। परन्तु वेद में उपमावाची कुच्छ एक निपात ऐसे आते हैं जिनका संस्कृत में अन्य अर्थों में ही प्रयोग होता है उपमा अर्थ में नहीं, उनका वेदाध्ययन करते समय बड़ा ध्यान रखना चाहिए। उन निपातों को केवल यहां गिन देता हूं। वह यह हैं—न, चित्, आ, नु। और इव उपमा वाची बड़ा प्रसिद्ध है, परन्तु यास्क के कथनानुसार यह पदपूर्ति के लिये भी आता है।

ii वेद में लुप्तोपमा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इस को भुला देने से हमारे अर्थ कहीं २ बड़े असंगत से हो जाते हैं। इस की ओर ध्यान न देने से वेदार्थ करने में बड़ी भूलें होती हैं अतः इसे कुछ एक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करना आवश्यक होगा।

१. द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्र मद्य दिविस्पृशम्
यज्ञं देवेषु यच्छताम्। ऋ. २. ४१. २०

इस का अर्थ सायण ने इस प्रकार किया है कि द्यावा पृथिवी दोनों स्वर्गादि के साधक, देवों को जाने वाले, इस यज्ञ को आज देवों को देवें।

यह है अर्थ! जिस में लुप्तोपमा को भुला देने से कोई भी संगति नहीं लगती, वेद मंत्र का कुछ भी मतलब ज्ञातनहीं होता। प्रकरण देखने से पता लगता है कि यहां सन्तानों की शिक्षा का विषय चल रहा है। तब इस का अर्थ यह होगा— (द्यावा पृथिवी) द्युलोक पृथिवीलोक के समान सब व्यवहारों को सिद्ध करने वाले पुरुष तथा स्त्री [अद्य] आज [इमं सिध्रं दिविपृस्शं यज्ञं] इस साधक, सर्वोत्तम जीवन को सिद्ध कराने वाले, और प्रकाश से स्पर्श कराने वाले, ज्ञान रूपी प्रकाश से संयुक्त करने वाले यज्ञ को, अध्यापन यज्ञ को,

शिक्षा प्रचार को (देवेषु) श्रेष्ठ गुणों वाले विद्वानों में (यच्छताम्) स्थापित करें। अर्थात् सब स्त्री पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वह अपनी सन्तानों को सुशिक्षित बनाने के लिये सर्वोत्तम जीवन के साधक और ज्ञान का प्रकाश देने वाले सुशिक्षा रूपी यज्ञ का भार श्रेष्ठ विद्वानों को सौंपें।

अब विचारणीय यह है कि "द्यावा पृथिव्यौ इव स्त्रीपुरुषौ" अर्थ करते हुए द्युलोक पृथिवीलोक को पुरुष स्त्री क्यों कहा गया। शतपथ ब्राह्मण में गर्भाधान संस्कार का वर्णन करते हुए पुरुष को द्युलोक, और स्त्री को पृथिवी के नाम से पुकारा है अतः इस का स्पष्टीकरण ब्राह्मण के वचनों से ही किया जाता है। उस में लिखा है। "अमोहमस्मि सा त्वं, सा त्वमस्यमोहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं, द्यौरहं, पृथिवी त्वं, तावेहि संरभावहै सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तये १४.७.५.१६ हे पत्नि मैं प्राण हूं तूं वाणी है। उसी को फिर बल देने के लिए दोहराते हैं। तूं वाणी है मैं प्राण हूं, मैं साम हूं तूं ऋक् है, मैं द्यौ हूं तूं पृथिवी है, आओ हम दोनों उद्यम करें, पुंस्त्व पुत्र की प्राप्ति के लिए, वीर्यवान् संतान के लाभ के लिए मिल कर वीर्य धारण करें।

अम और सा का प्राण तथा वाणी अर्थ क्यों किया गया और यहां इन की पुरुष स्त्री से तुलना करने का क्या अभि-

प्राय है यह श. १४. ३. १. २४ से ही स्पष्ट होता है। वहां प्राण के भिन्न २ नाम देते हुए लिखा है।

"एष उ एव साम, वाग् वै सामैष, सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्" प्राण का नाम साम भी है, सा वाणी अम प्राण। वाक् शब्द प्रायः करके संपूर्ण इन्द्रियों के प्रतिनिधि रूप में आया करता है अतः यहां वाक् से केवल वाणी ही नहीं लेना चाहिए परन्तु यह सब इन्द्रियों का बोधक है। प्राण और इन्द्रियों का केवल प्राण अर्थ करते हुए उपनिषद् ने यह बतलाया कि इन दोनों में प्राण श्रेष्ठ होने के कारण साम का अर्थ प्राण और इन्द्रियें नहीं परन्तु केवल प्राण ही किया गया। जब तक प्राण हैं तब तक इन्द्रियें भी अपने कार्यों में लगी रहती हैं प्राण के बिना इन्द्रियें कुछ नहीं। परन्तु यदि प्राण भी हों और इन्द्रियें बिलकुल न हों तो प्राण भी निरर्थक हो जाते हैं। अतः दोनों का होना आवश्यक है जिस में प्राण मुख्य हैं। इसी प्रकार सन्तानोत्पत्ति के लिए पुरुष स्त्री दोनों आवश्यक हैं और उन में पुरुष मुख्य है।

आगे पुरुष स्त्री को साम और ऋक् क्यों कहा गया इस का उत्तर निरुक्त के इस वचन से मिलता है, ऋचा समं मेने ७. १२ ऋक् के समान होने से वेद के तीसरे भाग को साम कहा जाता है। अर्थात् जिस

प्रकार ऋक् साम दोनों पद्यबद्ध होने से समान हैं उसी प्रकार स्त्री पुरुष भी समान हैं, उन्हें परस्पर में समता का व्यवहार रखना चाहिए। पुरुष को द्यौ और स्त्री को पृथिवी क्यों कहा गया इसकी पुष्टि हमें ऋग्वेद के (१. १६४. ३३) निम्नलिखित मंत्र से मिलती है—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र
बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्
उत्तानयो श्चम्वो र्योनि रन्त-
रत्रा पिता दुहितु गर्भ माधात्

निरुक्तकार इस वेद मंत्र का अर्थ वृष्टि कर्म के पक्ष में करते हैं अतः उनके अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार होगा—(द्यौः पिता जनिता) द्युलोक-सूर्य मेरा पालक और उत्पादक है (अत्र नाभिः) यहां सूर्य में उत्पत्ति का मूल है (इयं मही पृथिवी मे माता) यह महान् पृथिवी मेरी माता (बन्धुः) और बन्धु है (उत्तानयोः चम्वोः अन्तः योनिः) इन दूर तक फैले हुए सूर्य और पृथिवी में से जो योनि है अर्थात् पृथिवी (अत्र दुहितुः) उसमें दूरस्थित पृथिवी के (गर्भ आधात्)गर्भ को स्थापित करता है अर्थात् दूरस्थित पृथिवी में गर्भ स्थापित करता है।

सूर्य, पृथिवी द्वारा ही संपूर्ण ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। और ओषधिभ्यो ऽन्नम् अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः के अनुसार प्राणिमात्र के उत्पादक यही दोनों हैं। सूर्य रूपी

पिता भूमि रूपी माता में वर्षा और किरणों द्वारा गर्भ को स्थापित करता है उसी से वृक्षादि उत्पन्न होते, और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। परन्तु परिव्राजक या आत्मवित् संप्रदाय के लोग इस मंत्र को सीधा प्राणियों की उत्पत्ति की ओर लगाते हैं। उनके पक्ष में यहां लुप्तोपमा होगी। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य पृथिवी में गर्भ स्थापित करता है उसी प्रकार पुरुष स्त्री में गर्भ को विहित करता है अर्थात् पुरुष स्त्री के सम्बन्ध से ही सर्व प्राणियों की उत्पत्ति होती है वही सबके कारण होते हैं।

इससे पाठकों को पता लग गया होगा कि द्यावापृथिवी को पुरुष स्त्री क्यों कहा गया।

२. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।
शोचिष्केशं विचक्षण। ऋक्, साम, अथ० [अथ०]

यहां लुप्तोपमा न मान कर सायण ने केवल एक ही अर्थ आदित्य के पक्ष में किया है। परन्तु सम्पूर्ण सूक्त को ध्यानपूर्वक पढ़ने से इस सारे सूक्त में श्लेषालङ्कार जान पड़ता है। प्रत्येक मंत्र के दो दो अर्थ होगें एक आदित्य के पक्ष में और दूसरा परमात्मा विषयक। वह दोनों अर्थ कुछ मंत्रों में तो लुप्तोपमा के विना ही सिद्ध हो जाते हैं, शेष तीन मंत्रों में लुप्तोपमा द्वारा अर्थ स्पष्ट होते हैं। जिन में से एक मंत्र मैं आप के सामने उपस्थित करता हूं। इस के दोनों अर्थ इस प्रकार होगें—

i (देव विचक्षण सूर्य) हे स्वयंप्रकाशमान तथा सर्वप्रकाशक सूर्य (त्वा शोचिष्केशं) तुझ प्रकाशमान रश्मियों वाले को (सप्त हरितः) सात प्रकार की हरण करने वाली, सर्व

रसों को हरने वाली खींचने वाली किरणें (रथे वहन्ति) रथ में, सूर्यरूपी रथ के स्वरूप में ले जाती हैं, खींचती हैं।

सूर्यकी सात किरणें क्रमशः जामनी, आस्मानी, नीली, हरी, पीली, नारंगी और लाल होती हैं।

ii परमात्मा के पक्ष में लुप्तोपमा होगी। हे स्वयंप्रकाशमान! सर्व प्रकाशक! सर्वप्रेरक परमात्मन्! जैसे सूर्य की सात-प्रकार की रस हरण करने वाली किरणें रथ के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाती हैं उसी प्रकार तुम को सात छन्द अर्थात् वेद हमारे तक पहुंचाते हैं। वेदों की रचना सात ही छन्दों में है यह मैं पहले दिखला चुका हूं। जिसप्रकार सूर्य की सातों किरणें रस हरण करने से हरित् नाम से पुकारी गई हैं, उसी प्रकार सातों छन्द, अर्थात् वेदों ने भी संपूर्ण ज्ञान को हरण किया हुआ है, वह ज्ञान के भण्डार हैं, अतः वह भी हरित् नाम से कहे जासकते हैं। ब्रह्मज्ञान के साधन वेद ही हैं यह इस मंत्र में लुप्तोपमा द्वारा बतलाया गया है। इस प्रकार लुप्तोपमा का प्रयोग वेदों में बहुत पाया जाता है। उस का आश्रय लेने से हमारे वेदार्थ बड़े स्पष्ट हो जाते हैं।

iii स्वयं वेद की सहायता किसी अति प्राचीन साहित्य ग्रन्थके अध्ययन की एक यह भी विधि है कि उसीपुस्तक की सहायता से उसकी आलोचना की जावे। उस पुस्तक में एक जगह पर आये हुए शब्द का कुछ अर्थ पता नहीं चलता परन्तु दूसरी जगह अन्य स्पष्ट शब्दों के साथ प्रयुक्त होने से उस शब्द का अर्थ ज्ञात होजाता है। यही कारण है कि कभी २

अकेले शब्द का कोई अर्थ नहीं पता लगता परन्तु जब किसी स्पष्ट वाक्य में वह शब्द प्रयुक्त करके कहा जाता है तो अर्थ बड़ी सुगमता से समझ में आजाता है। यह नियम इतना व्यापक और सर्व प्रसिद्ध है कि इसकी सिद्धि के लिए तनिक भी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। यह नियम स्वयंसिद्ध नियम है। यही कारण है कि आजकल के विद्वानों का यह निश्चित सिद्धान्त है कि किसी भाषा को पढ़ानेके लिए Direct method को ही प्रयोग में लाना चाहिए। इस विधि से किए गये मंत्रार्थ सब के अधिक प्रामाणिक होंगे, क्योंकि उस में स्वयं वेद की साक्षि है। उस में और किसी प्रकार का सन्देह नहीं उठ सकता। i पाश्चात्य वेदाध्येतायों में राथ महाशय इसी पक्ष के अधिकतर पोषक हैं।

ii वर्तमान युग के वेद में प्रामाणिक स्वामी दयानन्द भी इसी सिद्धान्त के परिपोषक पता लगाते हैं। वह ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका के अन्तिम भाग में वेदार्थोपयोगी कुछ एक सामान्य नियमों को दर्शाते हुए सब के अन्त में इस नियम की ओर भी इशारा करते हैं। "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष मदिति-र्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदिति र्जातमदितिर्जनित्वम्" इस ऋग्वेद के मंत्र का उल्लेख करके लिखते हैं "अस्मिन्मंत्रे अदिति शब्दार्थाः द्यौरित्यादयः सन्ति, तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते। नैवास्य मंत्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम्" अर्थात् इस मंत्र में अदिति शब्द के अर्थ द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेव पञ्चजन, जात और जनित्व हैं। वह भी वेदभाष्य में अदिति

शब्द से लिए जावेंगे। इस मंत्र का लेखन सब जगह नहीं होगा अतः यहां मंत्र लिख दिया है।

यही शैली वेदार्थ करते हुए उन्हों ने ग्रहण भी की है। दृष्टान्त के लिए ऋग्वेद का पहला ही मंत्र लीजिए। वहां स्वामी जी ने अग्नि शब्द का अर्थ बताने के लिए वेद के तीन मंत्र दिए हैं, और उन से सिद्ध किया है कि अग्नि का अर्थ परमात्मा भी होता है।

iii निरुक्त के पर्यालोचन से पता लगता है कि यास्काचार्य भी इस पक्ष के मानने वाले थे। उन्हों ने वेदार्थ करते समय कई शब्दों की व्याख्या के लिए अन्य वेद मंत्रों का आश्रय लिया है उदाहरण के लिये कुच्छ एक यहां उद्धृत करता हूं।

(क) अस्य वामस्य····विश्पतिं सप्तपुत्रम्। इस मंत्र में सप्त-पुत्र का अर्थ सातरश्मियों वाला सूर्य, या सर्पणशील किरणों वाला आदित्य करने के लिए "सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा" मंत्र दिया है (४. २७)

(ख) वृत्र का अर्थ मेघ करने के लिए तथा ऐतिहासिक पक्ष के खण्डन के लिए "दासपत्नी रहिगोपा० मंत्र दिया है (२. १७)

(ग) पंचजन का अर्थ पांच प्रकार के मनुष्य जतलाने के लिए "यत्पाञ्चजन्यया विशा" मंत्र उद्धृत किया है (३.८)

(घ) अद्रि शब्द का अर्थ करते हुए "ते सोमादो हरी इन्द्रस्य" मंत्र द्वारा जतलाया है कि यह शब्द अद धातु से बना हुआ है अतः अद्रि का अर्थ अत्ता (भक्षक) भी होगा (४.४)

(ङ) एकपात् सूर्य को कहते हैं यह जतलाने के लिए "एकं पादं नोत्खिदति,, मंत्र दिया है (१२. २९)

इस प्रकार यास्क ने कई स्थानों पर वेद द्वारा ही अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिस से स्पष्ट है कि वह भी इस विधि को उत्तम समझता था।

मुझे अब अन्य उदाहरण देकर इस सिद्धान्त को पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि मैंने पहले कुच्छ एक वेदमंत्रों का अर्थ करते समय इस विधि का भी आश्रय लिया है, पाठकगण उसी से इस विधि के मूल्य को समझ गये होंगें।

iv वेद में उपलक्षण

मैं पहले लिख चुका हूं कि वेद में उपलक्षण का व्यवहार भी बहुत होता है। उसकी सिद्धि के लिए मैं एक वेदमंत्र उपस्थित करता हूं उस से यह पक्ष पूर्णतया पुष्ट होजावेगा। ऋग्वेद १० मण्डल ३४ सूक्त में द्यूत का बड़ा भयंकर, हृदयविदारक तथा रोमाञ्चजनक वर्णन करते हुए परमात्मा ने मनुष्यों को उपदेश दिया है कि तुम कभी जूआ मत खेलो, यह महापातक कर्म है।

i न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्य मासीत्
अक्षस्याह मेकपरस्य हेतो रनुव्रता मपजाया मरोधम्.

ii जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्
ऋणावा बिभ्यद्ध धन मिच्छमानो न्येषा मस्त मुपनक्तमेति.

iii यो वः सेनानी र्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि.

अर्थात्, इस पत्नी ने मुझे पहले कभी दुःख नहीं दिया

और नाहीं कभी लज्जित किया है, सदा मेरे मित्रों और मेरे लिए सुख देने वाली रही है, परन्तु मैंने एकमात्र जुए के कारण अपनी पतिव्रता स्त्री को छोड़ दिया है।

हीनावस्था को प्राप्त हुई हुई जुआरी की स्त्री पतिवियोग से संतप्त रहती है, उसकी माता पुत्र के कहीं घर से बाहर भटकने के कारण पुत्रवियोग से तड़पती रहती है। वह ऋणी डरता २ धन की इच्छा से रात्रि को दूसरों के घरों में चोरी के लिए जाता है।

हे अक्षो ! जो तुम्हारे महान् संघ का सेनानी है, जो तुम्हारे अक्ष समूह का मुख्य राजा है उसके लिए मैं दोनों हाथ जोड़ता हूं, आगे से धनों का नाश न करूंगा, यह मैं सच कहता हूं।

इस प्रकार आप सारा सूक्त पढ़ जावें उसमें द्यूत के कारण स्त्री के वियोग, उसकी हीनावस्था तथा धन नाश का चित्र खींचा गया है। द्यूत के इस रोमहर्षण दृश्य को दिखाकर आगे परमात्मा मनुष्यों को उपदेश देते हैं—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषि मित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।

इसलिए हे मनुष्य (अक्षैर्मा दीव्यः) पाशों से मत खेल, द्यूत क्रीड़ा मत कर (कृषिं इत्कृषस्व) कृषि ही कर (वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः) कृषिजन्य धन को ही बहुत समझकर उसी में रमण कर। उसी धन में संतुष्ट रह, लालच वश होकर जूआ मत खेल (कितव) हे जुआरी ! (तत्र) उसी कृषि में (गावः) सर्व प्रकार के धन हैं (तत्र जाया) और वहीं स्त्री है।

यहां गो शब्द का क्या अभिप्राय है। पहले जुएसे धन और स्त्रीके नाश का वर्णन कर चुके हैं। उस दुर्व्यसन से छुड़ाने के लिए कृषि में उन्हीं दोनों वस्तुओं की प्राप्ति बताना आवश्यक है। स्त्री के लिए तो जाया शब्द प.ा है। दूसरा शब्द गावः है निसन्देह वह धन के लिए आना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि यहां गो शब्द धनमात्र का प्रतिनिधि है। गोधन सांसारिक सब धनों में श्रेष्ठ समझा जाता है अतः प्रतिनिधि रूप में उसी का उल्लेख करना उचित है। अर्थात् कृषि से कभी धन नष्ट नहीं होता परन्तु उसको वृद्धि हा होती है, औ‹ स्त्री हीनावस्था को प्राप्त नहीं होती, उसका वियोग नहीं होता, परन्तु वह सदासमृद्ध होती है और घर में सुख रहता है। (तत् मे अयं सविता अर्यः विचष्टे) यह आज्ञा मुझे इस सर्वप्रेरक, सर्व स्वामी परमात्मा ने दी है। यहां परमात्मा ने मंत्र के पहले तीन चरणों को अपनी ओर से रखकर, चौथे चरण को मनुष्य के मुख से कहलाया है कि यह मुझे परमात्मा ने कहा है। इस से पाठकों को स्पष्ट होगया होगा कि वेद में उपलक्षण का भी प्रयोग है। इसी प्रकार चक्षु या वाक् शब्द इन्द्रियों के लिए आता है। अतः वेदार्थ करते समय इस नियम का भी ध्यान रखना चाहिए। वेद में धन और शत्रु वाची शब्दों का बड़ा प्रयोग आता है। वहां सदा उनका अर्थ सुवर्ण वस्त्रादि सांसारिक धन और संसार में प्रचलित शत्रु मनुष्य ही कर दिया जाता है। परन्तु यह बड़ी भूल है। यह शब्द बड़े व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। धन और शत्रु से सांसारिक तथा आत्मिक दोनों प्रकार के धन, शत्रु लिए जाते हैं।

तपोधन, विद्याधन, श्रद्धाधन आदि शब्द प्रसिद्ध ही हैं। मनुष्य के सुगुणों, श्रेष्ठ गुणों के लिये धन शब्द तथा दुर्गुणों के लिए शत्रु शब्द बहुधा प्रयुक्त होता है। यह लोक व्यवहार में भी इतना प्रसिद्ध हैं कि इस पर कुच्छ भी अधिक लिखकर लेख बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। इस का उल्लेख यहां इस लिए कर दिया हैं कि वेदाध्ययन करते समय हमें इस बात को भी भुला न देना चाहिए।

v अध्याहार करना

यहां वेद मंत्र में पढ़े हुए शब्दों से कोई पूरा अर्थ न निकले, वह मंत्र निराकांक्ष न हो, परन्तु किन्हीं अन्य शब्दों की आकांक्षा रखता हो तो उन शब्दों का बाहर से अध्याहार करलेना चाहिए। इस विधि का अनुसरण यास्क ने स्वयं किया हैं।

i को नु मर्या आमिथितः सखा सखाय मब्रवीत्
जहा को अस्मदीषते। ऋ० ८. ४५. ३७

इस मंत्र का संम्बन्ध पिछले मंत्रों से है। उस संम्बध को बिना देखे इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होसकता। अतः पहले उसे देख लेना आवश्यक होगा।

मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयो रुत त्रिषु
वधीर्मा शूर भूरिषु।

इस वेद मंत्र में मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्र! तुम हमें एक, दो या तीन पाप करने पर नाश मत करो, और बहुत पाप किये जाने पर भीं हमारा घात मत करो। इसी का उत्तर उपरोक्त मंत्रमें दिया गया है। (मर्याः कः नु आ-मिथितः सखा सखायं अब्रवीत्) हे मनुष्यो! कौन अहिंसित

मित्र मित्र के प्रति ऐसा कहता है कि तुम हमारा नाश मत करो, अर्थात् कोई नहीं। "जहा कः अस्मत् ईषते" इसका अर्थ यास्क ने इस प्रकार किया ह "अपापकं जघान कमहं जातु। कोऽस्माद् भीतः पलायते ४.१ (जहा) किस पाप रहित मनुष्य का मैंने कभी नाश किया है और (कः अस्मत् ईषते) कौन पापरहित मनुष्य मेरे से डर कर भागता है? कोई नहीं। अर्थात् मैं पापियों को ही दण्ड देता हूं, पुण्यात्माओं को नहीं, यदि तुम पाप रहित हो तो तुम्हें किसी प्रकार दण्ड नहीं मिल सकता। परन्तु पाप करने पर तो दण्ड अवश्य भुगतना ही पड़ेगा। यहां जहा शब्द के साकांक्ष होने ने यास्क ने अपापकं कम् अहं जातु इस का अध्याहार किया है।

ii येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जना अनु
त्वं वरुण पश्यसि। ऋक्, यजु, साम, अथ० ॥

(पावक वरुण) हे पावक! हे अन्धकार निवारक सूर्य! (त्वं येन चक्षसा) तूं जिस प्रकाश से [जनान् भुरण्यन्तम्] जात प्राणियों को धारण या पोषण करने वाली पृथिवी को भुरणधारण पोषणयोः (अनुपश्यसि) प्रकाशमान करता है। इतने मात्र से वाक्य समाप्त नही होता, अर्थ पूर्ति के लिए किन्हीं अन्य शब्दों की आवश्यकता है अतः यास्क ने "तत्ते वयं स्तुमः" 'तेन नो जनानभिविपश्यसि [१२.२५] यह शेष लगाये हैं। अर्थात् उस प्रकाश की हम स्तुति करते हैं, या उस प्रकाश से हम लोगों को प्रकाश देते हो।

इन अध्याहारों और शेषों को सायण, महीधर, स्वामी

दयानन्द आदि सभी भाष्यकर्ता मानते हैं। वेदार्थ करते समय यह बात भी ध्यान देने योग्य है। अतः यहां उसका निर्देश कर दिया है। परन्तु इस बात को कभी नहीं भुलाना चाहिए कि अध्याहार या शेष वहीं प्रयुक्त होंगे यहां शब्द या वाक्य उतने मात्र से अर्थ पूर्ण करने में असमर्थ हों।

vi प्रकरणानुसार अर्थ करना

जब सब वैदिक शब्द यौगिक हैं, उन में लुप्तोमायें भी होती हैं, उपलक्षण भी माने जाते हैं, अध्याहार भी किये जाते हैं तो मंत्रार्थों का निश्चय करना बड़ा कठिन होगा। वेदाध्येता जैसा चाहेगा अर्थ कर डालेगा। उसकी इस स्वच्छन्दता को रोकने वाला कौनसा नियामक नियम है जिस से यह दोष दूर हो जावे। वह नियामक नियम प्रकरण है। यास्क ने भी इसी बात पर विशेष बल दिया है कि प्रकरण के बिना मंत्रार्थ नहीं करने चाहिएं। वह वैदिक शब्दों का निर्वचनप्रकार दिखाकर कहते हैं "नैकपदानि निर्ब्रूयात्" एक पदों का निर्वचन न करे, प्रकरण के बिना पृथक् २ शब्दों का निर्वचन करके अर्थ न करे। आगे फिर १३.१२ में लिखा है "नतु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः" यही नहीं कि प्रकरण के बिना पृथक् २ शब्दों का ही अर्थ न करे। अपितु मंत्रों का भी पृथक् २ अर्थ नहीं करना चाहिए परन्तु प्रकरण को देख कर ही तदनुसार मंत्रों के अर्थ होने चाहियें। इस कसौटी के आधार पर जब हम मंत्रार्थों को परखेंगे तो फिर उन में भूलें नहीं होंगी। पहले मैनें जितने मंत्रों के अर्थ दिखाए हैं वह

सब इस को ध्यान में रखते हुए ही लिखे हैं। अब यहां इस अत्यावश्यक नियामक नियम को भुला देने से जो भूलें हो जाती हैं उस को स्पष्ट करने के लिये एक दो उदाहरण देता हूं।

१. सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन
सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत् पितुषणि र्ह्येषा
मरं हितो भवति वाजिनाय।

यह ऋग्वेद का १०.७१. १० मंत्र है। इसका जो अर्थ सायण ने किया है वह यह है कि समान ज्ञानवाले सब सभ्य मनुष्य सभा को सहन कर सकने वाले, ऋत्विजों के मित्र तथा यज्ञ में आए हुए सोमरस के कारण खुश होते है। वह सोमरस इन मनुष्यों के शत्रुयों का नाश करता है या यज्ञ में साधु क्रियाकलाप के न करने से जो इन को पाप लगता है उसका नाशक है। क्योंकि यजमान जो अन्न, या दक्षिणा विभक्त करता है वह इसी सोम से देता है अतः यह ऋत्विजों को अन्न तथा दक्षिणा का भी देने वाला है। और पात्रों में रक्खा हुआ यह सोम वीर्य देने के लिये पर्याप्त होता है।

यह अर्थ सर्वथा प्रकरण विरुद्ध और असंगत है। इस सारे सूक्त में ज्ञानी की प्रशंसा और अज्ञानी की निन्दा है। ज्ञान ही इस सूक्त का देवता या वर्णनीय विषय है। वहां सोमरस की कथा कहां से आ जावेगी। ९ मंत्र तक सायण

ने स्वयं उसी विषय के अर्थ किये हैं अतः उन मंत्रों को यहां दिखाना लाभकर न होगा।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु
यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः
अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभि
रोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे।

जब विद्वान् ब्राह्मण किसी गूढ़ विषय पर विचार के लिये इकट्ठे होते हैं, वहां उस सभा में से उस मूर्ख मनुष्य को हटा देते हैं जिस के लिये अभी बहुत कुछ वेदितव्य है, ज्ञातव्य है। और वह विद्वान् वहां विनिश्चय के लिये प्रवृत्त होते हैं जिन्होंने ब्रह्म का, ज्ञान का, विद्याओं का ऊहापोह कर लिया है। नवम मंत्र में अज्ञानी की निन्दा की है। तो अब दशम मंत्र में सभा का सहन कर सकने वाला सोमरस कहां से आ जावेगा। अष्टम मंत्र में विद्वानों की सभा में आये हुए विद्वानों और मूर्खों में से मूर्खों का पृथक्करण बतलाया, नवम में मूर्खों की निन्दा की, तो निःसंदेह दशम में विद्वानों की प्रशंसा होनी चाहिए। अब आप प्रकरण की कसौटी पर रख कर वेद मंत्र का अर्थ कीजिए, देखिये कैसा स्पष्ट है, और सोम शब्द भी बाहर से नहीं लगाना पड़ता।

(सर्वे सखायः) सब विद्वान् लोग (यशसा आगतेन) यश के साथ आये हुए, यशस्वी (सभासाहेन) विद्वानों की सभा का सहन कर सकने वाले (सख्या) मित्र से, विद्वान्

से (नन्दन्ति) प्रसन्न होते हैं। (एषां) इन विद्वानों के मध्य में (किल्बिषस्पृत्) पापनाशक (पितुषणिः) अन्नदाता और (हितः) हितकारी विद्वान् (वाजिनाय) वाणी का स्वामी होने के लिये, पाण्डित्य प्राप्ति के लिये [अरं भवति] समर्थ होता है। वाचाम् इनः वाजिनः यहां अयस्मयादीनि छन्दसि सूत्र से पद संज्ञा होने से जश्त्व, च को ज हो जाता है और भ संज्ञा होने से कुत्व नहीं होता। सायण ने स्वयं इसी में "नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु" यहां इसी नियम से शब्द सिद्धि की है। अर्थात् जब यशस्वी और सभ्यतम विद्वान्, विद्वत्सभा में आता है तब सब उपस्थित विद्वान् बड़े प्रसन्न होते हैं और वह पापों से दूर, अन्नों का दाता, और सब के लिये हितकारी मेधावी पुरुष अपने पाण्डित्य के लिए पूजित कियाजाता है।

ii प्रकरण को भुलाकर इससे अगले वेद मंत्र को भी बड़े संकुचित अर्थों में लिया जाता है। याज्ञिकों का यही एक मात्र मुख्य मंत्र है जिस से वह अपने यज्ञ की रचना बताते हैं, और इस मंत्र को केवल उन्हीं यज्ञों की ओर लगाया जाता है। अतः उसकी भी समालोचना करनी अपने पक्ष को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक होगी। वह मंत्र यह है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः

इस में होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु के जो कर्तव्य बताये गए हैं वह केवल इष्टि, यागादि में ही मान लिए गए हैं। अर्थात् यह चार मुख्य कार्यकर्त्ता यागों में होने चाहिएं जिन के कर्तव्य मंत्र में बताए हैं। और यह चारों संज्ञायें भी केवल यागों के कार्यकर्तायों के लिए रूढ़ कर दी गई हैं, परन्तु प्रकरण के देखने से यह मंत्रार्थ संगत प्रतीत नहीं देता। मैं पहले दिखला चुका हूं कि किस प्रकार अष्टम मंत्र में किसी विचार के लिए विद्वानों की सभा में आए हुए विद्वानों और मूर्खों में से मूर्खों का पृथक्करण बताया है। नवम में मूर्खों की निन्दा, और दशम में विद्वानों की प्रशंसा की गई है। तो अब ग्यारहवें में केवल याग की चर्चा कहां से आजावेगी। अतः वह सभा जो किसी बात के विचारार्थ बैठी है उसका कार्यक्रम किस प्रकार होना चाहिए यही इस मंत्र में वर्णित है। याग करना भी एक प्रकार की सभा है अतः उस में भी यही कार्य कर्ता होंगे। इस भूल का मूल कारण यही है कि वेद में आए हुए यज्ञ शब्द को बड़े संकुचित अर्थों में लेलिया गया है।

यज्ञ शब्द यज धातु से बना है जिस के देवपूजा, संगतिकरण और दान तीन अर्थ हैं। सायण महीधरादि स्वयं वेद में आये हुए "यजते" पद का संगच्छते अर्थ भी करते हैं। अतः यहां मनुष्य संगति करें उन सब सभा समाजों को यज्ञ कह सकते हैं। और जब पहले विद्वानों के संगमन का वर्णन भी आचुका है तो निस्सन्देह यहां यज्ञ का अर्थ सभा ही लेना उचित होगा न कि केवल यागादि।

अब मंत्र का अर्थ देखिए—[त्वः] एकः (ऋचां) ऋचन्ति स्तुवन्ति यया तासां वर्णनात्मिकानां वाचाम्, ऋच्यन्तेस्तूयन्ते याः विद्यास्तासां वा [पोषं पुपुष्वान्] पुष्टिं कुर्वन् [आस्ते] तिष्ठति [त्वः] एकः [शक्करीषु] ऋचु शक्यते वर्णयितुं यया तासु वाणीषु विद्यासु वा [गायत्रं] स्तोतव्यं गेयं वा [गायति] स्तौति, गायति वा [त्वः] एकः [ब्रह्मा] सभापतिः [जात-विद्यां] जाते जाते वेदयित्रीं वाचम् [वदति] वक्ति (उ त्वः) अपिचैकः [यज्ञस्य मात्रां] मीयते इति मात्रा कर्म तामितिकर्तव्य-ताम् [विमिमीते] निर्मिमीते ।

अर्थात् उस सभा में मुख्यतः चार कार्यकर्ता होते हैं । एक किसी विद्या पर व्याख्यान देता है । दूसरा उस व्याख्यान में जो उत्तम भाग होता है उस की प्रशंसा करता है, समालोचना करता है, या उस व्याख्यान के समाप्त हो जाने पर गान करता है । तीसरा सभापति समय २ पर कोई बात उपस्थित हो जाने पर कहता है कि ऐसा करो, और ऐसा न करो । और चौथा उस सभा का संपूर्ण प्रबन्ध करता है । इन्हीं के क्रमशः होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु नाम हैं । यास्क ने भी इस मंत्र का अर्थ किया है ।

वहां यास्क ने जो होता आदि के अर्थ दिए हैं उस से भी उपरोक्त भाव ही पुष्ट होता है । होता=यह शब्द आह्वानार्थक

ह्वेञ्, और दानार्थक हु, इन दो धातुओं से बनाया गया है [नि० ७. १५] अतः आह्वाता और दाता दो अर्थ होंगे। अर्थात् सभा को आह्वान करके, सभा को संबोधन करके बोलने वाला, या व्याख्यानदाता। उद्गाता=गै धातु धातुपाठ में गान अर्थ में और निघण्टु में स्तुत्यर्थक आती है अतः इस के अर्थ गायक या स्तोता, समालोचक दोनों होगें।

ब्रह्मा="सर्वविद्यः, सर्वं वेदितु मर्हति। ब्रह्मा परिवृढ़ः श्रुततः" अर्थात् ब्रह्मा वह है जो सर्व विद्याओं को जानता है, सब कुछ जानने योग्य होता है। यह ब्रह्मा शब्द वृद्ध्यर्थक बृह धातु से बनाया है, जो श्रुत से ज्ञान से बढ़ा हुआ हो। अर्थात् उपस्थित मनुष्यों में जो सब से अधिक विद्यावान् ज्ञानवान् हो वह ब्रह्मा या सभापति बनाया जावे।

अध्वर्यु="अध्वर्यु रध्वरयु रध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेता अध्वरं कामयत इति वा, अपि वाधीयाने युरुपबन्धः" अध्वर्यु= अध्वरयु, जो यज्ञ को युक्त करता है, अर्थात् यज्ञ का नेता अथवा जो यज्ञ करने की इच्छा रखता हो—यहां इच्छा अर्थ में यु प्रत्यय है; जैसे वसुयु [वसु कामयते] में होता है। अथवा पढ़ने अर्थ में यु प्रत्यय है, जो यज्ञ को पढ़ने वालाहो, अर्थात् जो सभा में यह उद्घोषित करे कि यह सभा कैसी है इस में क्या क्या होगा, या जो सभा की विद्या को जानता हो अर्थात् सभा का प्रबन्धकर्ता।

प्रत्येक सभा में सभापति, व्याख्यानदाता, समालोचक या गायक और प्रबन्धकर्ता मुख्यतः यही चार व्यक्ति सभा में भाग लेने वाले होते हैं। उन्हीं का यहां वर्णन है।

३. इंखयन्ती रपस्युव इन्द्रं जात मुपासते।
प्रजानासः सुवीर्यम्

यह वेदमंत्र ऋग्वेद (१०. १५३. १) सामवेद (पू० २) अथर्ववेद (२०.९३) तीनों में आता है।

इसका अर्थ प्रकरण को भुलाकर सायणाचार्य इस प्रकार करते हैं कि स्तुत्यादिकों से इन्द्र को प्राप्त होती हुईं, और कर्म की इच्छा रखती हुईं इन्द्र की मातायें प्रादुर्भूत इन्द्र की परिचर्या करती हैं, और पुष्टिदायक धन को उस इन्द्र से विभक्त करातो हैं, प्राप्त करतो हैं। परन्तु पाठक गण! इस से अगले मंत्रों में देखिए किसका वर्णन है—

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्यन्तरिक्षमतिरः।
उद्यामस्तभ्ना ओजसा

हे इन्द्र! तूं दुष्टों को दण्ड देने वाला है, तूने अन्तरिक्ष का विस्तृत किया, और तूने अपने बल से द्युलोक को नियम में रक्खा हुआ है।

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा।
स विश्वा भुव आभवः

हे इन्द्र! तूं अपने बल से संपूर्ण सृष्टियों का अभिभवकर्ता है। और वह तूं सकल लोकों में व्याप्त है।

इस वर्णन से निस्सन्देह इन्द्र का अर्थ परमात्मा होगा क्योंकि वही सर्वत्र व्यापक है। और सृष्टि का कर्ता धर्ता है। तो उपरोक्त मंत्र में इन्द्र की मातायें कहां से आजावेंगीं। क्या परमात्मा की भी कोई मातायें हैं? अतः इस प्रकरण को देखकर मंत्र का अर्थ यह होगा-(ईङ्खयन्तीः) ईखि धातु से बना है जिस का अर्थ गति अर्थात् ज्ञान, गमन, प्राप्ति हैं। अतः जानन्त्यः— ज्ञानशीला (अपस्युवः) कर्मशीला, और [भेजानासः] भजमानाः—भक्तिमती देवियें—भज सेवायाम् [सुवीर्यं] सुपराक्रमी और (जातं) प्रसिद्ध (इन्द्रं उपासते) परमेश्वर्यवान् परमात्मा के समीप बैठती हैं।

परमात्मा के समीप पहुंचने के यही तीन साधन हैं। विना ज्ञान के, विना कर्म के, या विना भक्ति के कोई मनुष्य ईश्वर के समीप नहीं जासकता। इस वेद मंत्र में ज्ञान, कर्म, भक्ति यही तीन साधन जतलाकर परमात्मा नारियों या प्रजा मात्र को उपदेश देते हैं कि इन्हीं के अवलम्बन से तुम लोग मेरे निकट पहुंच सकते हो। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं।

इन थोड़े से उदाहरणों से पाठकों को भली प्रकार विदित हो गया होगा कि प्रकरण वेदार्थ करने में कितना अधिक सहायक है। और उसको भुला देने से हमारे अर्थ कितने असंगत होते हैं।

vii विद्यायों का ज्ञान — वेदार्थ करने के लिऐं सर्व प्रकार की विद्यायों का ज्ञान होना भी आवश्यक है। जब हम संसार में प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब तक किसी ने कोई विज्ञान सीखा न हो वह उस विज्ञान की पुस्तक को स्वयमेव कभी नहीं समझ सकता तो यह कैसे संभव होसकता है कि केवल भाषा के परिज्ञान होजाने से वेदों में आये हुए वैज्ञानिक, दार्शनिक मन्त्र भी समझ में आसकेंगें। कोई मनुष्य चाहे कितना ही आंगल भाषा का पंडित क्यों न हो परन्तु यदि उसने ज्योतिष, वैद्यक, विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विद्यायों का बिलकुल अध्ययन नहीं किया वह कैसे स्वयमेव उन विद्यायों की पुस्तकों को समझ सकता है। भाषा से पूर्णतया परिचिति होने पर भी मनुष्यों का सारा जीवन खप जाता है परन्तु फिर भी सर्व विद्यायों की पुस्तकें स्वयं नहीं पढ़सकते। तो क्या वेद जिन में अनेक विद्यायों का वर्णन पाया जाता है, और वह भी विस्तार-रूप से नहीं परन्तु अतिसंक्षिप्त मूलरूप में वह बिना उन विद्यायों के ज्ञान के समझ में आसकते हैं ? कभी नहीं। उन उन विद्यायों के न आने से मन्त्रार्थ जान सकने की शक्ति हम में नहीं परन्तु कहा जाता है कि अमुक वेदमंत्र ऊटपटांग हैं। ठीक है, ऐसी अवस्था में तो वह असंगत ही दीखेगें। हां, यदि किसी को रसायन से अपरिचित होने के कारण एलेग्जेन्डर स्मिथ की पुस्तक स्वयमेव पढ़ने से समझ में नहीं आती और उससे वह वैज्ञानिक पुस्तक ऊटपटांग बन जाती है तो उन अर्थों में वेदमंत्र भी ऊटपटांग हैं। मनुष्य प्रायः आशंका किया करते हैं कि जो कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त पता लगाता है वही वेदों में से निकाल

दिया जाता है यदि उन में सचमुच वह विज्ञान है तो पहले ही क्यों नहीं बतलाया जाता। उनकी यह आशंका वैसी ही है जैसे कोई बिना पहले कभी गौ को देखे या सुने यह कह दे कि अमुक गौ है। यदि उसको गौ का ज्ञान हो जाने पर वह कहीं खड़ी गौ को देख कर यह कह दे कि देखो यह गौ है, वहां उसके ज्ञान से पूर्व गौ का अस्तित्व नहीं मिट जाता, तो वेद में आये हुए, उस वैज्ञानिक सिद्धान्त की उपस्थिति भी हमारे अज्ञान से दूर नहीं हो जाती। जिस मनुष्य ने कभी गौ को देखा ही नहीं वह कैसे बिना किसी के समझाये उस को जान सकेगा। इसी प्रकार जब तक हम किसी विद्या को जानते ही नहीं हम कैसे स्वयमेव उसे वेदमंत्र में समझ सकेंगे। परमात्मा ने ज्ञान दिया वह सब की समझ में आजाना चाहिए। यह ठीक है, परन्तु बिना किसी से पढ़े कैसे ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। पहले जब परमात्मा ने अपना वेदरूपी ज्ञान ऋषियों को दिया उन्हों ने उसका बहुत्र प्रचार किया। उस अध्यापन से परमात्मा का ज्ञान अन्य मनुष्यों तक पहुंचा। अब जब की वेद का प्रचार लुप्त हो चुका है तब कैसे वह ज्ञान उपलब्ध किया जासकता है। किसी भी विद्या के सीखने का एक मात्र उपाय यही है कि गुरुमुख से अध्ययन किया जावे। वेद के इस समय यदि गुरुजन नहीं मिलते तो यही उपाय हो सकता है कि पहले अन्य सब विद्याओं

की शिक्षा ग्रहण करली जावें पुनः उसके आधार पर वेदार्थ समझने का प्रयत्न किया जावे । इसके सिवाय हमारे पास अन्य कोई विधि नहीं । जो जितना अधिक ज्ञानवान् होगा उतनी ही उसे वेदार्थ करने में अधिक सुगमता होगी। इसी बात को निरुक्त ने भी दर्शाया है। वह लिखता है "नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारोवर्य वित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्योभवति १३.१२,१.१६। वेदार्थों का प्रत्यक्ष ऋषि और तपस्वी के बिना किसी को नहीं होता । गुरु परम्परा से जानने वालों में तो जो अधिक विद्यावान् होगा वही प्रशस्त समझा जाता है । अर्थात् वेदार्थों का साक्षात्कार तो ऋषि और तपस्वियों को होता है इतर मनुष्यों में जो अधिक विद्याओं को जानने वाला होगा वही वेदार्थ करने में शक्त हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि वेदार्थ ज्ञान के लिए अन्य विज्ञानों, विद्याओं का जानना भी आवश्यक है। हमारे सभी प्राचीन धार्मिक और वैज्ञानिक ग्रन्थ यही कहते हैं कि उनका मूल वेद ही है। अतः उनके पर्यालोचन से भी कहीं २ वेद मंत्रों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। इसके एक दो उदाहरण लिख चुका हूं। अब इस विधि की स्पष्टता के लिए कुछ वेदमंत्र और पेश करता हूं।

१. एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्
यदंग स तमुत्खिदे न्नैवाद्य न श्वः स्यात्
न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन। अथ० ११.४२१

सलिलम् इसकी सिद्धि दो तरह से की जाती है। एक सत् और लिल दो शब्दों के योग से, और दूसरी गत्यर्थक सल

धातु से औणादिक इलच् प्रत्यय करने से। ली धातु से लक् प्रत्यय करके लिल बनाते हैं जिसका अर्थ लीन होता है, इसी लिए सलिलम् का सद्भावे लीनं अर्थ बहुधा किया जाता है। यहां सच्च लिलं चेति सलिलम् द्वन्द्व समास होगा। हंसः— हन्ति गच्छतीति हंसः।

(हंसः) गतिशील सूर्य (सलिलात् उच्चरन्) गतभाव से, अस्तंगत भाव से, या उस दशा से जिस में उस की सत्ता तो विद्यमान है परन्तु अस्त हो जाने के कारण उस लोक के मनुष्यों के लिए लीन है (उच्चरन्) उदित होता हुआ (एकं पादं) अपने एक पैर को (न उत्खिदति) नहीं उठाता। (अङ्ग) हे मनुष्यो ! (यत् सः) यदि वह सूर्य (तं उत्खिदेत्) उस एक पैर को उठाले तो (नैव अद्य न श्वः स्यात्) न आज हो, न कल (न रात्रिः न अहः स्यात्) न रात्रि हो न दिन हो (न व्युच्छेत् कदाचन , व्युच्छनम् उषसः प्रादुर्भावः। और नाहीं कभी उषःकाल हो।

तै० ब्रा० में सूर्य को अजः और एकपाद् कहा है। तं सूर्यदेवमजमेकपादं ३. १.२६। सूर्य के नाम अजएकपाद् की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है 'अजनः एकः पादः' यहां अज का अर्थ अजन्मा नहीं, परन्तु गतिमान् है। अर्थात् सूर्य गति करने वाला है और इस का एक ही पैर है। जो अर्थ निरुक्त ने अज का किया है वही उपरोक्त मन्त्र में हंस शब्द से जतलाया गया है। अब मंत्र का आशय बिलकुल स्पष्ट है कि सूर्य गति तो करता है परन्तु अपने पैर को उठाकर दूसरी जगह नहीं जाता, अर्थात् अपनी परिधि

में ही घूमता रहता है। यदि ऐसा न हो तो आज कल, दिन रात, उषा आदि कोई काल विभाग नहीं हो सकता। इस प्रकार इस वेदमंत्र में चार बातों का ज्ञान दिया गया है। सूर्य उदय, अस्त होता है। उस के अस्त होनेसे उसकी सत्ता में किसी प्रकार का भेद नहीं पड़ता, वह केवल उस लोक के मनुष्यों की दृष्टि में लीन होता है. ii गति करने वाला है. iii परन्तु यह गति अपनी परिधि में ही होती है. iv इसी गति के कारण दिन रात, उषा आदि काल बनते हैं।

अब यदि हमें सूर्य अपनी परिधि में घूमता है इस बात का पहले परिज्ञान न हो तो इस मंत्र का समझना सर्वथा दुष्कर होगा।

२. इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येवरायः सोम राजन् प्रण आयूंषि तारी रहा नीव सूर्यो वासराणि

(ऋ० ८. ४८. ७) (सोम) हे सकलजगदुत्पादक परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! षु प्राणिप्रसवैश्वर्ययोः के अनुसार षु-धातु दोनों अर्थों में आती है। (इषिरेण मनसा) तेरे में लगे हुए मन से—यास्क ने इषिरेण का अर्थ ईषणेन करते हुए गत्यर्थक ईष धातु से भी बनाया है अतः गतव्रता प्राप्तव्रता मनसा यह अर्थ किया है। (ते सुतस्य) तुझ से उत्पन्न पदार्थों का (पित्र्यस्य रायः इव) अपने पिता के धन की न्याईं (भक्षीमहि) उपभोग करें। अर्थात् जिस प्रकार पिता के धन को सुपुत्र अपने भोग के लिए स्वेच्छा वर्त सकता है उसीप्रकार हे प्रभो हम भी तुम्हारे धन को तुम्हारे में मन लगाते

हुए, तुम्हारे सुपुत्र कहलाते हुए ही वर्तें। (राजन्) हे सब के स्वामिन् प्रभो ! (सूर्यः वासरानि अहानि इव) जैसे सूर्य बड़े दिनों को बढ़ाता है वैसे (नः आयूंषि प्रतारीः) हमारी आयुओं को बढ़ाओ। यास्क ने वासर का अर्थ गमनानि करते हुए (४.७) वि पूर्वक सृ धातु से इस की सिद्धि जतलाई है। अर्थात् जो दिन विसृत हों, विस्तृत हों वह बड़े दिन। यहां आयु वृद्धि के लिये बड़े दिनों की उपमा देनी तभी समझ में आसकती है यदि हमें सूर्य के चारों तरफ पृथिवी के घूमने पर आदित्य किस प्रकार वासरों को बनाता है इस बात का भलीप्रकार परिज्ञान हो।

३. साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया।

यह वेदमंत्र यजुर्वेद [१२.८७] ऋग्वेद [१०.९७.१३] दोनों में पाया जाता है। ऋग्वेद के इस सूक्त में सारे २३ मंत्र हैं। यही यजुर्वेद में १२. ७५–१०१ तक है, और चार मन्त्र ९७ से १०० तक ऋग्वेद से अधिक हैं।

[यक्ष्म] हे यक्ष्म रोग ! त्वं [चाषेण साकं] चषवधे, चषति व्याकुलं कृत्वा हन्तीति चाषस्तेन पित्तरोगेन सह [प्रपत] गच्छ [किकिदीविना] कफावरुद्धकण्ठोत्थ ध्वनेरनुकरणार्थः किकिशब्दः। किकिना तेन ध्वनिविशेषेण दीव्यति व्यवहरतीति किकिदीविस्तेन कफरोगेण सह गच्छ (वातस्य ध्राज्या) वातस्य गत्या वातरोगेण सह [नश्य] नष्टो भव। ध्रजगतौ [निहाकया] निहतोऽस्मि हा कष्टमिति कायति, अथवा नितरां हाहा इति कायति

शब्दं करोति यया रुजः सा निहाका तया सन्निपातरोगेण सह नष्टो भव। नि हा पूर्वकात् शब्दार्थकात् कै धातोः क्विप् प्रत्ययः। अर्थात् हे रोगाधिराज क्षयरोग! तूं व्याकुल करके मारने वाले पित्तरोग, कफ से रुके हुए कण्ठ की ध्वनि से युक्त कफ रोग, वातरोग तथा जिस रोग से पीड़ित होने पर रोगी "मर गया, हा बड़ा कष्ट है ऐसा चिल्लाता है या बारम्बर हाहाकार करता है उस सन्निपातरोग के साथ मेरे शरीर से निकल जावो, नष्ट हो जावो।

क्षयरोग रोगों की खानि है। वैद्यक में सब रोगों को वात, पित, कफ, और सन्निपात इन चार विभागों में विभक्त किया हुआ है। इन्हीं चार प्रकार के रोगों को यहां गिन दिया है। अतएव इन चारों रोगों के साथ क्षयरोग से छुटकारा पाने की प्रार्थना की गई है।

स्वामी जी ने इस मंत्र का अर्थ दूसरी तरह से किया है। उन के अनुसार अर्थ करने से पूर्व शब्दों की सिद्धि देदेनी आवश्यक होगी। चाष=चष भक्षणे, भक्षणार्थक चष धातु से यह शब्द सिद्ध किया गया है। किकिदीवि=कि ज्ञाने, ज्ञानार्थक यङ्लुगन्त कि धातु से क्विप्। यङ् होने से किकि द्वित्व हो जावेगा। किकिना अत्यर्थं ज्ञानेन दीव्यते व्यवह्रियते दीयते इति किकिदीविः। किकि पूर्वक दिव् धातु से औणादिक क्विन् प्रत्यय। निहाका नितरां जहाति त्यजति रोगादिकं यया सा निहाका, अर्थात् व्यायाम। ओहाक् त्यागे, नि पूर्वक हा धातु से औणादिक कन् प्रत्यय।

(यक्ष्म) हे क्षयरोग तू [किकिदीविना चाषेण सह] सोच समझ कर ज्ञान पूर्वक दिए हुए भक्षण से, ओषधि सेवन से [प्रपत] दूर हो [वातस्य ध्राज्या साकं] वायु की गति से अर्थात् प्राणायाम से दूर हो [निहाकया साकं नश्य] और रोगों को दूर करने वाले व्यायाम से नष्ट हो । अर्थात् रोग से मुक्त होने के तीन साधन हैं—ज्ञानपूर्वक औषध सेवन, प्राणायाम, और व्यायाम । व्यायाम के बारे में भावप्रकाश [१, ४. ५७, ७३] में लिखा है । व्यायामदृढ़गात्रस्य व्याधिर्नास्ति कदाचन । अर्थात् व्यायाम से संगठित शरीर वाले को कभी रोग नहीं होता । ii व्यायाम क्षुण्ण वपुषं पद्भ्यां संमर्दितं तथा । व्याधयो नोपसर्पन्ति वैनतेय मिवोरगः ॥ व्यायाम से संगठित शरीर वाले, और पावों में तेल की मालिश करने वाले मनुष्य के पास रोग ऐसे ही नहीं आते जैसे गरुड़ के समीप सर्प ।

४. त्वां गन्धर्वा अखनं स्त्वा मिन्द्र स्त्वां बृहस्पतिः
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत

इस यजुर्वेद के मंत्र का अर्थ सायण, महीधर, उवट ने यही किया है कि हे ओषधे ! तुझे गन्धर्व, इन्द्र, बृहस्पति और सोम यह देवता विशेष खोदते हैं । परन्तु यदि हमें वैद्यक से परिचय हो तो इसका अर्थ बड़ा स्पष्ट है।

(ओषधे) हे ओषधे! तुम्हें (गन्धर्वाः) गां आयुर्वेदवाचं धारयन्तीति गन्धर्वाः, वाणी को आयुर्वेद वाणी को धारण

करने वाले, वैद्यक को भलीप्रकार जानने वाले वैद्य (अखनन्) खोदते हैं। (त्वां इन्द्र) तुझ को रोगों के निदानादि को देखने वाला, जानने वाला, इदं दर्शनात् व्युत्पत्ति से यह अर्थ होगा (त्वां बृहस्पतिः) तुझ को वेदवेत्ता, या बृहतः महतो पि रोगा त्पाता वा पालयिता वा, बड़े से बड़े रोग से भी रक्षा करने वाला (त्वां राजा सोमः विद्वान्) और तुझ को ओषधियों का राजा तथा शान्त स्वभाव वैद्य जानता हुआ, किस २ समय कहां से और कैसे ओषधियें खोदकर लानी चाहिएं इस बात को जानता हुआ खोदता है। और फिर उनदी हुई ओषधियों से रोगी पुरुष (यक्ष्मात् अमुच्यत) क्षयरोग से मुक्त होजाता है। धन्वन्तरीय निघण्टु में वैद्य का लक्षण करते हुए कहा है।

वैद्यः श्रेष्ठोगदंकारी रोगहारी भिषग्विधः।
रोगज्ञो जीवनो विद्वानायुर्वेदी चिकित्सकः ॥

यह श्लोक बिलकुल उपरोक्त मंत्र का अनुवाद है। गंधर्व= आयुर्वेदी, इन्द्र=रोगज्ञ, बृहस्पति=अगदंकारी (रोगरहित करने वाला) रोगहारी, जीवन (जीवन दाता) सोम=श्रेष्ठ, राजा= भिषग्विध, विद्वान्=विद्वान्।

औषधि खनन के बारे में भी उसी निघण्टु में लिखा है-

यथावदुत्खाय शुचिप्रदेशजाः
द्विजेन कालादिक तत्ववेदिना
यथायथं चौषधयो प्रयोजिताः
प्रत्याहरन्ते यमगोचरादपि.

अर्थात् कालादिक को जानने वाले ब्राह्मण से नियमपूर्वक शुद्ध स्थान में उत्पन्न औषधियें खोद कर, विधि पूर्वक रोगी को दी हुईं उसे मृत्यु के मुख से भी छुड़ा देती हैं। कालानुसार औषधियें उखाड़ कर रोगी को दी हुईं लाभकर होती हैं इस की साक्षि हमें बौद्ध इतिहास से भी मिलती है। गौतमबुद्ध के समकालीन अतिप्रवीण और प्रसिद्धतम वैद्यशिरोमणि जीवक को कौन नहीं जानता। उज्जयिनि के राजा प्रद्योत का असाध्य पाण्डुरोग दूर करते समय उसने राजदण्ड से वचने के निमित्त औषध देते ही भाग जाने के लिये बहाना ढूंड कर राजा को कहा "मयं खो देव! वेज्जा नाम तादिसेन मुहुत्तेन मूलानि उद्धराम, भेसज्जानि संहराम......महावग्ग ८. १ हे देव! हम व वैद्यलोग मुहूर्तानुसार मूलों और भैषज्यों को उखाड़ते हैं, अतः आप कर्मचारियों को आज्ञा देवें कि मैं जिस सवारी से, जिसद्वार से और जिस समय बाहर जाना चाहूं जाने दें। इस से स्पष्ट है कि औषधियें प्रत्येक स्थल से या प्रत्येक समय में उखाड़ी हुईं गुणकारी नहीं होतीं। उन के लिये विशेष विद्या की आवश्यकता है। पूर्ण वैद्य ही उससे अभिज्ञ होने के कारण स्वयं औषधियें उखाड़ कर प्रयोग में लाते हैं, और उस से लाभ होता है। यही बात उपरोक्त मंत्र में वर्णित है।

५. अन्या वो अन्या मवत्वन्या न्यस्या उपावत
ताःसर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ।

(वः) हे ओषधियो ! तुह्मारे मध्य में (अन्या) एक ओषधि (अन्यां अवतु) दूसरी ओषधि में प्रविष्ट हो या उस की रक्षा करे–अव धातु रक्षा और प्रवेश दोनों अर्थों में आती है। (अन्या) वह अन्य औषधि, दूसरी औषधि (अन्यस्याः उपावत) तीसरी के प्रभाव की समीप जाकर रक्षा करे–यहां उपावत पुरुष और वचनव्यत्यय है, उपावत की जगह मध्यम पुरुष का बहुवचन है (ताः सर्वाः) वह सब औषधियें (संविदानाः) संगच्छमानाः, परस्पर मिली हुईं (मे इदं वचः) मेरे इस वचन को जो अगले मंत्र "तानोमुञ्चत्वंहसः" में या "साकं यक्ष्म प्रपत" इस पूर्वोक्त मंत्र में रोग से मुक्त होने की प्रार्थना की गई है उसको (प्रावत) रक्षित करो। अर्थात् तुम सब मिली हुईं रोगी के रोग को दूर करो। इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि कई भिन्न २ ओषधियें मिलकर भी अपना प्रभाव डालती हैं और एक ओषधि दूसरी में मिली हुई उस के गुण को तो रहने देती है, और दोष को दूर कर देती है।

इसी सूक्त के एक मंत्र में भिषक् का लक्षण बड़े सुन्दर शब्दों में इस प्रकार किया है।

> ६. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव
> विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः

(समितौ राजानः इव) जिसप्रकार राजा या क्षत्रिय लोग संग्राम में इकट्ठे होते हैं, उसप्रकार [ओषधीः] हे ओषधियो ! तुम [यत्र] जिस पुरुष में [समग्मत] इकट्ठी होती हो [सः] वह

[रक्षोहा] रक्षसां हन्ता, रोग पैदा करनेवाले क्रिमियोंका नाशक [अमीवचातनः] अमीवानां चातनः, और रोगों का विनाशक [विप्रः] मेधावी ब्राह्मण (भिषक् उच्यते) भिषक् कहलाता है। रोग उत्पन्न करनेवाले क्रिमियों के लिये भी रक्षस् शब्द वेद में बहुत्र प्रयुक्त होता है। यास्क ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—रक्षो रक्षितव्यम् अस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा ४.१८ इन क्रिमियों से अपने आप को सदा बचाना आवश्यक है नहीं तो बड़े हानिकर होते हैं, और यह गुप्त तौर पर प्राणि का हनन करते हैं। इन दोनों कारणों से इनका रक्षस् नाम है।

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये

यह वेदमंत्र ऋग्वेद (१०.१६२.१) अथर्ववेद (२०.९६.११) दोनों में पाया जाता है। इस में गर्भस्राव से सुरक्षा की प्रार्थना की गई है। "यस्ते गर्भ ममीवा दुर्णामा योनिमाशये" इस मंत्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा (६.१२) कहकर दुर्णामा को कृमि विशेष का नाम बताया है। अतः रक्षोहा का अर्थ रक्षसों का, क्रिमियों का नाश करने वाला ही होगा। जिस से स्पष्ट है कि रक्षस् का अर्थ क्रिमि भी होता है। अमीवा रोग, तथा रोग उत्पन्न करने वाले क्रिमि इन दोनों अर्थों में आता है, अतः उपरोक्त मंत्र में अमीवचातनः का अर्थ

रोगों का विनाशक किया गया है क्योंकि क्रिमिनाशक तो रक्षोहा से ही कह दिया गया है। संपूर्ण रोगों को वैद्यकविज्ञान ने दो विभागों में विभक्त किया हुआ है। एक क्रिमियों (jerms) के कारण उत्पन्न होने वाले रोग, और दूसरे विना क्रिमियों के। यहा दो विभाग वेद ने किये हैं। उपरोक्त वेद मंत्र का ठीक २ आशय विना वैद्यक जाने नहीं आसकता। उसे मैं वैद्यक पुस्तकों से ही स्पष्ट करूंगा। "समितौ राजानः इव" इस उपमा की व्याख्या राजनिघण्टु २० वर्ग ५० श्लोक में इस प्रकार की है—

राजानो विजिगीषया निजभुजप्रकान्तमोजोदयात्
शौर्यं संगररंङ्गसद्मनि यथा संबिभ्रते संगताः
यस्मिन्नौषधयस्तथा समुदिताः सिध्यन्ति वीर्याधिकाः
विप्रो सौ भिषगुच्यते स्वयमिति श्रुत्यापि सत्यापितम्.

अर्थात् जिस प्रकार राजा लोग विजय कामना से संग्राम रूपी रंग स्थली में एकत्रित हुए हुए उत्साहादि ओज के आविर्भूत होने पर निज भुजवल से उत्पन्न शौर्य को धारण करते हैं उस प्रकार जिस पुरुष में उसीतरह इकट्ठी हुई हुई ओषधियें अधिक वीर्यवाली सिद्ध होती हैं वह विप्र भिषक् कहलाता है इसे स्वयं वेद ने भी प्रमाणित किया है।

इस वेदमंत्र को चरक के सूत्रस्थान १म अध्याय में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

१. ओषधी र्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने
आविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः।

२. न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन वा पुनः
ओषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति ।
३. योगविन्नामरूपज्ञ स्तासांतत्वविदुच्यते
किं पुनः यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक् ।
४. योगमासान्तु यो विद्याद् देशकालोपपादितम्
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स विज्ञेयो भिषक्तमः ।

....

५. स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचेत्

गड़रिये, चरवाहे, ग्वाले तथा अन्य सब वनों में रहने वाले लोग औषधियों के नाम, रूप को अच्छी तरह जानते हैं । परन्तु केवल नाम के जानने से अथवा औषधियों की सूरत पहचानने से औषधियों की परम प्राप्ति को नहीं जान सकता । जो मनुष्य औषधियों के प्रयोग, नाम और रूपों को जानता है वही औषधतत्ववित् कहलाता है । और जो संपूर्ण प्रकार से औषधियों को जानता है उस का तो कहना ही क्या है । जो मनुष्य देश काल और रोगी पुरुष को देख कर औषधियों का प्रयोग जानता है वह भिषक्तम अर्थात् उत्तम वैद्य है । वही वैद्यों में श्रेष्ठ वैद्य है जो रोगी को रोगों से मुक्त करदे ।

इस प्रकार राजनिघन्टु ने तो मंत्र की उपमा को स्पष्ट किया, और चरक ने उपमा को छोड़ कर शेष मंत्र के गूढ़ भाव को खोलकर दिखाया । उसने मंत्र के प्रथम भाग की

चार श्लोकों में व्याख्या करके पंचम में द्वितीय भाग का अर्थ कर दिया है।

पाठक गण ! यह थोड़े से वेद मंत्र मैंने अपने पक्ष की पुष्टि के लिये आप के सामने उपस्थित किये हैं। इस से आप स्वयं परिणाम निकाल सकते हैं कि जो मनुष्य इन विद्यायों को जानता है वही ऐसे वेद मंत्रों को स्वयं समझ सकेगा दूसरा नहीं। बिना तत्तद् विद्यायों को जाने वेदाध्ययन बड़ा दुष्कर होगा। मुझे स्वयं इन का अर्थ करने के लिये पहले वैद्यकादि की पुस्तकें देखनी पड़ी हैं। और संभव है कि जो भली प्रकार वैद्यक, ज्योतिष को जानता हो, उसे मंत्रों का महत्त्व और अधिक दृष्टिगोचर हो।

viii पालिभाषा की सहायता

वेदार्थ करने के लिये पालिभाषा भी बड़ी सहायक है। शायद यह विचार पाठकों को पहले पहल बड़ा विचित्र प्रतीत देगा, परन्तु पालि के अध्ययन से हमें यही पता लगता है कि यह भाषा लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिकभाषा से बहुत मिलती है। मैंने जो पहले पालि के कुछ एक उद्धरण दिये हैं उससे आपको यह तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि पालि की संस्कृत से कितनी अधिक समानता है। यह सच है कि पालि के बहुत से शब्द अपभ्रंश के रूप में हैं और संस्कृत के शुद्ध शब्द

पाये जाते हैं परन्तु वैदिकभाषा की तरह पालि व्याकरण के नियम भी बड़े व्यापक हैं। उसके नियमों में संस्कृत की अपेक्षा वैदिकभाषा से बहुत कुच्छ एकता पाई जाती है जिस से मेरे विचार में वैदिकभाषा से ही पालि, और संस्कृत दोनों भाषायें निकली प्रतीत देती हैं। भेद केवल इतना है कि संस्कृत में जितने वैदिक शब्द हैं वह सब वैसे के वैसे शुद्ध रूप में तो हैं, परन्तु उस में वह सब शब्द प्रयुक्त नहीं होते जो वेद में पाये जाते हैं। और पालि में यद्यपि बहुत जगह वैदिक शब्द अपभ्रंश के रूप में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु संस्कृत की अपेक्षा शब्द अधिक पाये जाते हैं। अब मैं आपके सामने अतिसंक्षेप से पालि व्याकरण के थोड़े से नियम पेश करता हूं उस से मेरे उपरोक्त विचार की पुष्टि हो जावेगी।

१. ळ अक्षर का प्रयोग संस्कृत में बिलकुल नहीं। क्योंकि शिक्षा या व्याकरण में नाहीं यह कोई भिन्न अक्षर माना गया है और नाहीं किसी व्याकरण सूत्र से इसका आदेश बताया गया है परन्तु पालि और वेद दोनों में साधारणतः पाया जाता है। इसका नियम ऋक् प्रातिशाख्य के १ पटल १०, ११ सूत्रों में इस प्रकार दिया है। "द्वयो श्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः" "ळहकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः इळा साळ्हा चात्र निदर्शनानि विड्वंग इत्येतदयगृहेण" अर्थात् इस देवमित्र आचार्य के मतानुसार दो स्वरों के मध्य में आया हुआ ड ळ हो जाता है, और ऊष्म ढकार अर्थात् ढ ळ्ह

हो जाता है, जैसे इळा (इडा) यहां पर इ और आ दो वर्णों के मध्य का ड ळ हो गया, और साळ्हा (साढा) यहां पर दो आकारों के मध्य का ढ ळ्ह हो गया, तथा विड्वंग यहां पर दो स्वरों के मध्य में ड न होने से ळ नहीं हुआ ।

यह नियम वेद में से कई उदाहरण लेकर देखा जासकता हैं । जैसे ईळे, मृळ, ताळितः, क्रीळन्तौ, मीळ्हुषे, दळ्हा, षोळ्हा, अषाळ्हः इत्यादि स्थलों में ड,ढ को ळ, ळ्ह होगये, परन्तु ईड्यः, मडिंतारम्, आण्डा यहां ळ नहीं हुआ । पालि में यद्यपि ळ अक्षर पृथक् ही माना गया है, परन्तु नियम ठीक यही लगता है । लगुळ, विळङ्ग, वीळित, मीळ्ह, मूळ्ह, आसाळ्ह आळ्हक, यहां दो स्वरों के मध्य में होने से ळ, ळ्ह होता है,कमण्डलु, खिड्डा यहां नहीं होता. ii पालि में दो स्वरों के मध्यवर्ती द की जगह भी ळ का प्रयोग उळार [उदार] वेळुरिय [वैदूर्य] आळाहन [आदाहन] आदि थोड़े से शब्दों में पाया जाता है । उसी प्रकार पता लगता है कि यह नियम वेद में भी प्रयुक्त होता है क्योंकि यास्कने ६.३१ में कुळ्ळती का कृत्तदती अवगत शब्द देते हुए द की जगह ळ बताया है ।

२. जैसे वेद में "शेश्छन्दसि बहुलम्" सूत्र करके शि का लोप विकल्प करके हो जाता है और नपुंसक लिंग शब्दों की प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में या, यानि, ता, तानि, धना, धनानि, वना, वनानि, स्पार्हा स्पार्हाणि, हिरण्या, हिरण्यानि आदि दोनों प्रयोग आते हैं उसी प्रकार पालि में भी

ऐसे दोनों रूप बनते हैं। परन्तु संस्कृत में केवल यानि, तानि आदि रूप ही होते हैं। इस नियम में एक बात पालि के अध्ययन से सूझती है। पालि में 'अतो निच्च' इस कात्यायन सूत्र [२.४.८] से अकारान्त नपुंसक लिंग शब्दों के प्रथमा, द्वितीया विभक्ति के बहुवचन यो को नि होकर यानि, तानि रूप बनते हैं। और "सब्ब योनीनं आए २.१.५६ इससे उस नि को प्रथमा में आ और द्वितीया में ए विकल्प करके होजाता है। इससे प्रथमा बहुवचन में तो या, यानि आदि रूप बनेगें, और द्वितीया में यानि ये आदि। वेद में शेश्छन्दसि बहुलं करके यद्यपि द्वितीया विभक्ति में भी या आदि रूप बन सकते हैं परन्तु मैंने पालि के उपरोक्त नियम को ध्यान में रखकर जब वेदमंत्रों का अध्ययन किया तो वहां भी यही नियम पाया गया। मुझे अभी तक एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला यहां द्वितीया विभक्ति में भी शि का लोप होकर या, ता, वना आदि शब्द आये हों। वेद में भी प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में तो या, यानि, ता, तानि आदि दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं परन्तु द्वितीया में केवल यानि तानि आदि का ही प्रयोग पाया गया है या, ता का नहीं। विज्योतिषा.........शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे ऋ० ५,२,९ यहां तुमर्थवाची विनिक्षे के साथ रक्षसे का सम्बन्ध होने से यह द्वितीया विभक्ति का रूप होना चाहिए। इस लिये सायण ने भी इसका अर्थ इस प्रकार किया है "शिशीते तीक्ष्णीकरोति शृंगे शृंगाणि शृङ्गसदृशीः हिंसिकाः वा ज्वाला किमर्थम् रक्षसे विनिक्षे रक्षसो नाशाय" इस अग्नि देवता वाले मंत्र का अर्थ सायण ने आग की ओर लगाया है परन्तु स्वामी जी के कथनानुसार

विद्वान् पक्ष में ठीक जंचता है। (अग्निः) ज्ञानी विद्वान् (रक्षसे) रक्षांसि दुर्गुणान् (विनिक्षे) विनाशयितुं [शृङ्गे] शृङ्गाणि तेजांसि (शिशीते) तीक्ष्णीकरोति। अर्थात् विद्वान् पुरुष दुर्गुणों के विनाश के लिए अपने तेजों को बढ़ाता है।

ii उत स्वानासो...तिग्मायुधाः रक्षसे हन्तवा उ। ऋ० ५,२,१० यहां हन्तवै की जगह संधि करके हन्तवा उ पाठ है। हन्तवै हन् धातु से तुमुन् अर्थ में तवै प्रत्यय करने से बनता है। अतः रक्षसे हन्तवै का अर्थ रक्षांसि हन्तुम् होगा।

इस प्रकार इन दो मंत्रोंसे मैंने आप को बताया कि शृङ्गे और रक्षसे नपुंसकलिंग शृङ्ग, रक्षस् शब्दों के द्वितीया बहुवचन के रूप हैं, वेदमें यह एत्व का नियम हमें पालि से स्पष्ट होता है उसे ध्यान में रखना चाहिए।

[ख] त्वया वयं सुवृधा····वसु मनुष्या० (ऋ. २. २३. ६) आजङ्घन्ति सान्वेषां (य. २६. ५०.) इन मंत्रों की व्याख्या करते हुए यास्क, सायणादि ने वसु, सानु के अर्थ वसूनि, सानूनि किए हैं। अर्थात् वेद में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में वसु, वसूनि आदि दोनों रूप बनते हैं। इसी प्रकार पालि में भी उकारान्त नपुंसकलिंग शब्दों के ऐसे ही दो रूप होते हैं। परन्तु संस्कृत में केवल सानूनि, वसूनि आदि होंगे।

३. संस्कृत में अकारान्त शब्दों के तृतीया विभक्ति बहुवचन में सदा भिस् को ऐस् होकर देवैः, भद्रैः, पूर्वैः आदि ही रूप बनते हैं। परन्तु वेद में बहुलं छन्दसि (७.१.१०)

करके कहीं २ ऐस् न हो कर देवेभिः आदि भी रूप होते हैं। यही नियम पालि में है। भेद केवल इतना है कि वहां कभी भी ऐस् नहीं होता, अतः देवेभि, भद्रेभि, पुब्बेभि रूप ही प्रयुक्त होगें। यदि आलोचना की जावे तो यही ज्ञात होता है कि वैदिकभाषा में भी आधिक्य भिस् का ही है ऐस् का नहीं। इस की पुष्टि के लिये कुच्छ शब्द आपके सामने उपस्थित करता हूं। चारों वेदों में विश्वेभिः ३६ बार विश्वैः ११ बार, विप्रेभिः १२ बार विप्रैः ३ बार आये हैं। और केवल शंतमेभिः, भद्रेभिः, अनृतेभिः, सौभगेभिः का ही प्रयोग आया है शंतमैः आदि का नहीं।

४. वा छन्दसि (६.१.१०६) से ईकारान्त शब्दों के प्रथमा बहुवचन में मारुतीः, मानुषीः, पिण्डीः आदि रूप भी होते हैं। परन्तु संस्कृत में केवल मारुत्यः, मानुष्यः, पिण्ड्यः ही होगें। इसीप्रकार पालि में मानुसी पिण्डी आदि होते हैं।

५. या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा। अश्विना ता हवामहे, अश्विना पुरुदंससा नरा०, दस्रा युवाकवः सुता नासत्या० आदि वेद मंत्रों में सुपां सुलुक् सूत्र से औ की जगह आ मानकर यौ, सुरथौ, रथीतमौ, उभौ, देवौ, दिविस्पृशौ, अश्विनौ, तौ, पुरुदंससौ, नरौ, दस्रौ, सुतौ, नासत्यौ अर्थ किये जाते हैं। पालि में एकवचन बहुवचन ही होते हैं द्विवचन नहीं होता। अतः दो के लिए भी बहुवचन का प्रयोग होगा! और पालि के उस बहुवचन में या, सुरथा, रथीतमा आदि ही रूप होते हैं।

ii इसी प्रकार "वाछन्दसि" वार्तिक से आर्न्यौं, द्यावापृथिव्यौ, उशत्यौ आदि की जगह वेद में आर्त्नी, द्यावापृथिवी, उशती आदि शब्द भी प्रयुक्त किए गए हैं। वह भी पालि में ईकारान्त शब्दों के बहुवचनान्त जैसे हैं। अतः द्विवचन का अर्थ हो जावेगा।

iii यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू० ऋ. १०.१२१.४ मंत्र में सायण ने द्विवचनान्त बाहु का अर्थ बहुवचनान्त बाहवः, किया है। पालि में उकारान्त शब्दों के प्रथमा बहुवचन में बाहू, बाहवो आदि दोनों रूप बनते हैं।

६. चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (२.३.६२) सूत्र से वेद में षष्ठी विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में भी आती है। और उसी सूत्र पर पढ़े हुए "षष्ठयर्थे चतुर्थी" वार्तिक से चतुर्थी षष्ठी के अर्थ में आती है। अर्थात् संस्कृत में जो चतुर्थी, षष्ठी के भिन्न भिन्न रूप बनते हैं वह सब वेद में दोनों विभक्तियों में समान हैं। यही बात पालि में पाई जाती है। वहां भी अग्गिनो अग्गिस्स, अग्गीनं; मनसो मनस्स, मनानं आदि रूप दोनों विभक्तियों में एक जैसे बनेगें।

७. वेद में सर्वत्र नंपुसक लिंग इतर शब्द के प्रथमा, द्वितीया विभक्ति के एकवचन में नेतराच्छन्दसि (७.१.२६) से अद्ड् न होकर इतरम् ही रूप पाया जाता है, इतरत् नहीं। परन्तु संस्कृत में इतरत् होता है। इसी प्रकार पालि में भी इतरं ही बनता है।

८. गोः पादान्ते (७. १. ५७) से ऋक् पादान्त "विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूर गोनाम्" इत्यादि स्थलों में गवाम् की जगह गोनाम् प्रयोग आता है। इसी प्रकार पालि में भी गो शब्द के षष्ठी बहुवचन में गवं, गोनं, दोनों रूप बनते हैं।

९. "बहुवचनस्य वस्नसौ" सूत्र से वः, नः संस्कृत में युष्मद्, अस्मद् शब्दों के षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया विभक्तियों के बहुवचनों में प्रयुक्त होते हैं। परंतु वेद में प्र वो महे० यजु. ३३. २३. ऋक्, विश्वेदेवाः शास्तन वो वहानि ऋ. १०.५२. १, प्र वो वायुं ऋ० १०. ६४. ७ इत्यादि स्थानों पर यास्क (११. ९) उवट, सायण ने वः का अर्थ प्रथमा बहुवचन यूयम् किया है। और अभीस्वयंः... ता नो विश्वानि० ऋ० १०. ५९. ३ में सायण ने नः का अर्थ तृतीया बहुवचन अस्माभिः किया है। इसी प्रकार पालि में भी वो, नो प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, षष्ठी विभक्तियों के बहुवचनों में आते हैं।

१०. वेद में "सुपां सुपो भवन्ति" से विभक्ति, वचन व्यत्यय बहुत अधिक पाये जाते हैं। उनके व्यत्यय का कोई विशेष नियम हमें परिज्ञात नहीं। यह व्यत्यय क्यों किये जावें? इसका सन्तोषप्रद उत्तर हमें नहीं मिलता। परमात्मा पूर्ण है, यदि वेद परमात्मा के ही दिये हुए हैं तो उसकी भाषा में यह अपूर्णता का महान् दोष नहीं होना चाहिए। यदि व्यत्यय ही किया जाना था तो परमात्मा ने असली शब्द ही क्यों नहीं प्रयुक्त कर दिये जिससे यह दोष न रहता। यह आशंका हमें बहुत डगमगाती है। वैदिकभाषा में इतनी भारी त्रुटि का

होना बड़ा खटकता है। पर इस का उत्तर हमें पालि से मिलता है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से पालि और वैदिकभाषा का अध्ययन करें तो इस सन्देह की निवृत्ति हो जावेगी। पालि में भिन्न २ विभक्तियों और वचनों के रूप समान होते हैं। जैसे i सब शब्दों में तृतीया पंचमी के बहुवचन, तथा चतुर्थी षष्टी विभक्तियों के रूप समान होते हैं। ii बुद्ध, धन, गुणवन्त (गुणवत्) गच्छन्त (गच्छत्) आदि अकारान्त शब्दों में द्वितीया बहुवचन तथा सप्तमी एक वचन iii अत्त [आत्मन्] राज (राजन्) आदि शब्दों में द्वितीया एक वचन तथा चतुर्थी षष्ठी बहुवचन. iv व्याधि, केतु, पितु (पितृ) आदि पुलिङ्ग शब्दों में तृतीया, पंचमी विभक्तियों के एक वचन v मेधा, मति, नदी धेनु, जम्बू आदि स्त्रीलिङ्ग शब्दों में तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी विभक्तियों के एक वचन समान होते हैं। vi पालि में एकवचन और बहुवचन ही होते हैं द्विवचन नहीं, अतः द्विवचन, बहुवचन के रूप समान होंगे। पालि में भी यदि कोई संस्कृत की दृष्टि से व्यत्यय कहना चाहे तो कह सकता है। परंतु वास्तव में यह व्यत्यय नहीं, उन २ विभक्तियों और वचनों के अपने ही रूप हैं। इसी प्रकार वेद में व्यत्यय संस्कृतभाषा की दृष्टि से किये जाते हैं। संभव है वहां भी पालिभाषा की तरह उन उन विभक्तियों और वचनों में वह रूप भी होते हों। अतः उसे व्यत्यय नहीं कह सकते। वेदों में यहां भाष्यकारों ने संगति के अनुसार व्यत्यय किये हों, उन्हें यदि

उपरोक्त पालि के नियम को दृष्टि में रखते हुए एकत्रित करें तो हमें एक नियम का पता लगसकता है।

११.इसी प्रकार वेद में परस्मैपद की जगह आत्मनेपद, और आत्मनेपद की जगह परस्मैपद भी पाया जाता है। जैसे इच्छते पर्यप-श्यत, अनुपश्यते, पृच्छते आदि में आत्मनेपद और युध्यति,यतति, दधति आदि में परस्मैपद है। इस अनियमता की आशंका का उत्तर भी पालि से मिलता है। पालि में सामान्यतः प्रत्येक धातु से कर्त्ता, कर्म में परस्मैपद, आत्मनेपद दोनों विहित हैं। परन्तु उनका नियामक प्रयोग है। इसी प्रकार वेद में भी हो सकता है कि प्रत्येक धातु उभयपदी हो। वहां व्यत्यय संस्कृत की दृष्टि से होगा। इस को भी यदि ध्यान से देखा जावे तो संभवतः वेद में भी संस्कृत की दृष्टि से वही व्य-त्यय मिलें जो पालि में पाये जाते हैं।

१२. संस्कृत में सदा "समासे ऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् से स-मास में क्त्वा को ल्यप् होता है। जिससे परिधाप्य निधाय आदि प्रयोग होते हैं, और समास रहित में कभी ल्यप् नहीं होता। परन्तु वेद में "क्त्वापि छन्दसि" से इन दोनों नियमों का विपर्यय पाया जाता है। परिधापयित्वा, यहां समास में भी ल्यप् नहीं हुआ, और अर्च्य यहां असमास में भी हो गया। इसी प्रकार पालि में भी समास का कोई ध्यान न देकर सर्वत्र सब्बेहि तूनादीनं यो (७.४. ८) कात्यायन सूत्र से त्वा को य विकल्प करके हो जाता है। अतः परिधापयित्वा, अर्च्चिय दो-नों प्रयुक्त हो सकेगें।

ii पालि में क्त्वा अर्थ में त्वान प्रत्यय होकर कत्वान, जित्वान (कृत्वा, जित्वा) आदि शब्द बनते हैं। वेद में 'इष्ट्वीन मिति च' सूत्रानुसार इष्ट्वीन पीत्वीन (इष्ट्वा, पीत्वा) आदि प्रयोग पाये जाते हैं।

१३. वेद में तुमुन् अर्थ में तवै, तवेङ, तवेन्, प्रत्यय होकर दातवै, सूतवे, कर्तवे आदि शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। परन्तु संस्कृत में केवल दातुम्, सोतुम्, कर्तुम् ही होगें। इसी प्रकार पालि में "इच्छत्थेसु समानकत्तुकेसु तवे तुंवा (७. २. १२) से दातवे दातुं, सोतवे, सोतुं कातवे, कातुं आदि दोनों प्रयोग होते हैं।

१४. संस्कृत में कितनी दूर अर्थ में कियत् शब्द आता है। परन्तु वेद में उद्वृह रक्षः... आकीवतः ऋ० ३. ३०. १७ यहां पर कियतः की जगह कीवतः पञ्चम्यन्त प्रयुक्त है। इसी प्रकार पालि में भी कीव आता है। क्योंकि इसमें तकारान्त शब्द नहीं होते अतः कीवत् का कीव रह गया है। ii संस्कृत में केवल गुरु शब्द है गरु नहीं। परन्तु यास्क ७. १८. में गरुत्मान् का गुर्वात्मा अर्थ करते हुए वेद में गरु शब्द का भी निर्देश करते हैं। पालि में भी गरु, गुरु दोनों आते हैं। iii 'वाह च छन्दसि" सूत्र से वेद में कुह कहां के लिये प्रयुक्त होता है संस्कृत में नहीं। वहां केवल क्व, कुत्र का ही प्रयोग है। इसी प्रकार पालि में कुहं आता है। iv यास्क ने वैदिक शब्द कीकट (६. ३२) का संस्कृत में किंकृत परिवर्तन करते हुए जतलाया है कि उसी के अन्तर

बदलने से कीकट बना है। ठीक यही परिवर्तन पालि में भी होगा। कृत के स्थान पर पालि में कट प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार कृतक शब्द को कृतक (६. ३३) की जगह बताते हुए कृत के स्थान पर कट को रक्खा है।

V. पालि में "विदन्तेऊ [७.५.१०) से विदू शब्द वेत्ता या विद्वान् अर्थ में आता है। वेद में मानो अग्ने...विदुष्कविः सन्० [ऋ. १. ७१. १०] राजेव हि...विदुष्कविः सन्० [ऋ. ७. १८. २] त्वमग्ने...विदुष्टरः [ऋ. १. ३१. १४.] इत्यादि अनेक स्थलों में विदुस् आता है। इसकी सिद्धि सायण इस प्रकार करता है—विद ज्ञाने बहुलमन्यत्रापि भवतीति उसिप्रत्ययः,अतएव बहुलवचनाद्गुणाभावः VI पालि में अकः अकरोत् अर्थ में आता है। वेद में "उरुं हि राजा...अकः ० [ऋ. १. २४.८.] इत्यादि स्थलों में अकः का प्रयोग बहुत पाया जाता है। VII. पालि में इमस्स अस्य के अर्थ में आता है। वेद में भी "यदि मे सख्यमावर इमस्य ० [ऋ. ८. १३. २१] इस स्थान पर इमस्य शब्द आता है VIII. पालि में त्रीणि त्रयाणाम् के अर्थ में आता है। महि त्रीणा मवोस्तु० [ऋ. य. सा.] इस तीनों वेदों में आए हुए मंत्र में त्रीणाम् पाया जाताहै। IX. तति शब्द वेद [ऋ. ६. २४. ४] पालि दोनों में आता है। संस्कृत में तति होगा। X. पालि में माहेवं अवचा,मा एवं अकत्थ इत्यादि स्थलों में माङ् के योग में भी अट् का आगम पाया जाता है। और न जहासी [अहासीत्] ससेनाय पलायि सो' आदि में सर्वत्र

लुङ् के प्रथम पुरुष एकवचन में अडागम विकल्प करके होने से यहां माङ् का योग नहीं वहां भी अट् नहीं होता। इसीप्रकार वेद में "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि (६. ४. ७५.) सूत्र के अनुसार जनिष्ठाः, ऊनयीत्, मर्दयीत् आदि में भी अट् नहीं परन्तु मा अभीत्थाः, मा आवः, स्थानों में पाया जाता है।

१५. वेद की सन्धियें भी पालि के साथ बहुत कुच्छ मिलती हैं। यास्क ने गरु आत्मन् से गरुत्मान् सिद्ध करते हुए जतलाया कि उ से परे आ का लोप या पूर्व रूप होगया है। पालि में भी यही सन्धि होगी। वहां "वा परो असरूपा" [१. २. २] से असमान स्वर से परवर्ती स्वर का लोप विकल्प करके हो जाता है। ii यास्क विश्वानर की सिद्धि करते हुए लिखते हैं-विश्वानरः मत्यृतः सर्वाणि भूतानि ७,२२। सर्वाणि विश्वानि का पर्याय वाची शब्द है। तब विश्वानर की सिद्धि इस प्रकार होगी। विश्वानि प्रति अर्ति गच्छतीति विश्वानरः,विश्वानि अरः–विश्वा-रः यहां इ का लोप या पररूप कर दिया है। इसी प्रकार पालि में "सरासरे लोपं" से स्वर परे होने पर पूर्ववर्ती स्वर का लोप होता है। iii प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे (६. १.११५) से "अवपथासि च" तक सात सूत्रों से वेद में ए ओ से परे अ होने पर प्रकृतिभाव किया है। अर्थात् "एङः पदान्तादति से जो अ का पूर्व रूप प्राप्त था उसका निषेध किया है। तेस्मिन्, सोग्निः, अङ्गे अङ्गे, आदि की जगह तेअस्मिन्, तेअग्रे, शिरोअपश्यम् नो अव्यात्, शतधारो अयं, आपो अस्मात्, प्राणो अङ्गे अङ्गे

अदीध्यत् , सो अग्निः, सो अध्वरः आदि प्रयुक्त होते हैं। यही नियम पालि में भी है। वहां "वापरो असरूपा" में विकल्प, तथा "यं एदन्तस्सादेसो "वं ओदुदन्तानं" इन सूत्रों में क्वचित् होने से परस्वर अकार का लोप तथा ए, ओ को य, व नहीं होते। iv "ईषा अक्षादीना छन्दसि प्रकृतिभावः" वार्तिक से ईषा अक्षः, पथा अगमन्, पूषा अविष्ट, का ईमारे, ज्या इयम् इत्यादि स्थलों में प्रकृतिभाव करते हुए दीर्घ एकादेश तथा गुण का निषेध किया है, अन्यथा ईषाक्षः,ज्येयम् आदि रूप बनते। यही बात पालि में है। वहां भी " धनसञ्चियं कत्वाअहो मय्हं पितादयो" "याच जाया इमस्स तु" इत्यादि स्थलों में सन्धि नही होती ।

पालि, वैदिक भाषा की समानता के यह थोड़े से उदाहरण मैनें आपके सामने रक्खे। उससे आप स्वयं परिणाम निकाल सकते हैं कि वेदार्थ करने में पालि भाषा कितनी सहायक है।

पाठक गण ! शब्दों की यौगिकता, हीनोपमा या लुप्तोपमा, स्वयं वेद की सहायता, उपलक्षण, अध्याहार या शेष, प्रकरण, त्रियार्थों का ज्ञान, पालिभाषा की सहायता, यह आठ बातें वेदार्थ करते समय ध्यान रखने योग्य हैं यह दर्शाकर अन्त में लेख को इस वेदमन्त्र के साथ समाप्त करता हूं।

उतत्वः पश्यन्नददर्शवाच मुतत्वः शृण्वन्नशृणोत्येनाम्
उतो त्वस्मैतन्वंविसस्रे जायेव पत्यउशतीसुवासाः ।

महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत

(लेखक—प्रो० चन्द्रमणि)

माडर्नरिव्यू:—हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की पुस्तकें उस के भविष्य को शीघ्रगामी तथा कान्तियुक्त दर्शाती हैं ।.............
....इस पुस्तक में ग्रन्थकर्ता ने बड़े ध्यान और प्रशंसनीय गवेषणा के साथ पतञ्जलि कृत महाभाष्य के पाठ से ऐतिहासिक सच्चाइयों पर पहुंचने का प्रयत्न किया है। साथ साथ वह तत्कालीन सामाजिक रीति रिवाज़ों पर भी बहुत कुछ प्रकाश डालने में कृत कृत्य हुए हैं। उस समय की संस्कृतभाषा की दशा दर्शाने का भाग बड़ा सुन्दर पाठ होगा। ग्रन्थकर्त्ता ने कुच्छ एक सच्चाइयों पर बड़े वैज्ञानिक तरीके पर पहुंचने में जो परिश्रम किया है हम उसकी प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते। भाषा उत्तम है। मूल्य ।=)

(१) यास्क कृत निरुक्त की अर्थ सहित शब्द सूचि (२) वैदिक व्याकरण (३) लंकाद्वीप का वर्णन (४) पालि भाषा का अभिधानप्पदीपिका नामी मुख्य कोष और (५) नामपदमाला आख्यातपदमाला यह सब पुस्तक लिखे तय्यार हैं जो महाशय उनका कापी राइट लेना चाहे वह ग्रन्थकर्त्ता से पत्रव्यवहार करें।

चन्द्रमणि विद्यालङ्कार
गुरुकुल कांगड़ी
Dist. Bijnor

पुस्तक लौटाने की तिथि अन्त में अङ्कित है। इस तिथि को पुस्तक न लौटाने पर छै नये पैसे प्रति पुस्तक अतिरिक्त दिनों का अर्थदण्ड लगेगा।